समकालीन हिन्दी उपन्यासों में मूल्य एवं सामाजिक मानसिकता: एक अध्ययन
(चुने हुए उपन्यासों के संदर्भ में)

A STUDY OF VALUE AND SOCIAL PSYCHE IN CONTEMPORARY HINDI NOVELS
(With Special Reference to Selected Novels)

कालिकट विश्वविद्यालय की

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबंध

Thesis
Submitted to the University of Calicut
for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY IN HINDI

निर्देशक :

डॉ. हेरमन. पी.जे

असिस्टेन्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्ता :

शहला. के.पी

शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

2018

Dr. HERMAN. P.J
Assistant Professor
Department of Hindi
University of Calicut

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"A Study of Value and Social Psyche in Contemporary Hindi Novels (With Special Reference to Selected Novels)"** is a bonafide record of research work carried out by **SHAHLA. K.P,** under my supervision and that no part of this thesis has hitherto been submitted for a Research Degree in any University.

C.U. Campus
Date:

Dr. Herman. P.J
(Supervising Teacher)

DECLARATION

I, **SHAHLA. K.P**, do hereby declare that this thesis entitled **"A Study of Value and Social Psyche in Contemporary Hindi Novels (With Special Reference to Selected Novels)"** is a record of bonafide research carried out by me and this has not previously formed the basis for the award of any Degree, Diploma, Associateship, Fellowship other similar Title or Recognition. This research work was supervised by **Dr. Herman. P.J**, Assistant Professor, Department of Hindi, University of Calicut.

C.U. Campus
Date:

SHAHLA. K.P
Research Scholar
Department of Hindi
University of Calicut

अनुक्रमणिका

पृ.सं.

प्राक्कथन **i-iv**

पहला अध्याय : **1-31**

मूल्य एवं सामाजिक मानसिकता : एक अध्ययन

1.1 मूल्य : अवधारणा

1.1.1 मूल्य : उद्‌भव एवं विकास

1.1.2 परिभाषा एवं दृष्टिकोण

1.1.3 मूल्यों का वर्गीकरण

1.1.3.1 सांस्कृतिक मूल्य

1.1.3.2 व्यक्तिगत मूल्य या वैयक्तिक मूल्य

1.1.3.3 नैतिक मूल्य

1.1.3.4 धार्मिक मूल्य

1.1.3.5 राजनीतिक मूल्य

1.1.3.6 सौंदर्यात्मक मूल्य

1.1.3.7 आर्थिक मूल्य

1.1.3.8 वैज्ञानिक मूल्य

1.1.4 भारतीय जीवन मूल्य

1.1.5 मूल्य संबंधी पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण में अंतर

1.1.6 मूल्य, संस्कृति और सभ्यता

1.1.7 मूल्य और साहित्य

1.2 सामाजिक मानसिकता

1.2.1 आधुनिक भारतीय समाज

1.2.1.1 ब्रह्म समाज

1.2.1.2 प्रार्थना समाज

1.2.1.3 आर्य समाज

1.2.1.4 रामकृष्ण मिशन

1.2.1.5 थियॉसफिकल सोसाइटी

1.2.2 स्वातंत्र्योत्तर भारत और सामाजिक मानसिकता

1.2.3 सामाजिक मानसिकता : वर्तमान परिवेश

दूसरा अध्याय :
समकालीन हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा **32-74**

2.1 समकालीन हिन्दी उपन्यास : विचारात्मक प्रवृत्तियाँ

2.1.1 भूमण्डलीकरण, नवउपनिवेशवाद और हिन्दी उपन्यास

2.1.2 दलित उपन्यास

2.1.3 स्त्री विमर्श और हिन्दी उपन्यास

2.1.4 आदिवासी उपन्यास

2.1.5 वृद्ध समस्या

2.1.6 पारिस्थितिक सजगता

2.1.7 धर्म, विभाजन और साम्प्रदायिकता

2.1.8 आतंकवाद और कश्मीर समस्या

2.1.9 लैंगिक अस्मिता का सवाल

2.1.10 किसान, श्रमिक जीवन की अभिव्यक्ति

2.1.11 कला का बाज़ार जगत

2.1.12 मिथकीय उपन्यास

2.1.13 नक्सलवाद की समस्या

2.2 समकालीन हिन्दी उपन्यास : भाषागत प्रवृत्तियाँ

2.2.1 संरचना में नवीनता

2.2.2 दृश्य माध्यमों से बदली भाषा

2.2.3 जादुई भाषा का प्रयोग

2.2.4 हिंग्लिश का बढ़ता प्रयोग

तीसरा अध्याय :

मूल्य संक्रमण की स्थितियाँ : समकालीन हिन्दी उपन्यासों में **75-119**

3.1 पारिवारिक आयाम

3.1.1 पुरानी और नयी पीढ़ी में द्वन्द्व

3.1.2 परिवार में स्त्री की स्थिति

3.1.3 संबंधों के प्रति स्त्री की बदलती नज़रिया

3.1.4 बुज़ुर्गों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार

3.2 धार्मिक आयाम

3.2.1 आस्था और अंध विश्वास

3.2.2 धर्म का मंडीकरण

3.2.3 सांस्कृतिक प्रतीकों का दुरुपयोग

3.2.4 धार्मिक उन्माद

3.2.5 साम्प्रदायिकता

3.2.6 मीडिया का दुरुपयोग

3.3 राजनीतिक आयाम

3.3.1 अवसरवादी राजनीति

3.3.2 जाति आधारित राजनीति

3.3.3 साम्प्रदायिक राजनीति

3.3.4 क्षेत्रवाद

3.3.5 विकास और भ्रष्टाचार

3.3.6 राजनीति में स्त्री

3.4 आर्थिक आयाम

3.4.1 आर्थिक उदारीकरण और किसान

3.4.2 आर्थिक उदारीकरण: शिक्षा पर प्रभाव

3.4.3 भ्रष्टाचार

3.4.4 भूख और गरीबी

3.5 साँस्कृतिक आयाम

3.5.1 उपभोगवादी संस्कृति

चौथा अध्याय :

सामाजिक मानसीकता : समकालीन हिन्दी उपन्यासों में **120-175**

4.1 पितृसत्ता की मानसिकता

4.2 स्त्री की मानसिकता

4.3 जातिवादी मानसिकता

4.4 साम्प्रदायिक ताकतों की मानसिकता

4.5 भीड़ की मानसिकता

4.6 बुद्धिजीवियों की मानसिकता

4.7 राज्य या स्टेट की मानसिकता

4.8 नव उपनिवेशवादी, पूँजीवादी मानसिकता

4.9 उपभोक्तावादी मानसिकता

4.10 बुजुर्गों की मानसिकता

4.11 हाशियेकृत समाज की मानसिकता

4.12 युवा मानसिकता

4.13 प्रतिरोधी मानसिकता

पाँचवाँ अध्याय :

अभिव्यक्ति की नवीनता : समय की माँग **176-186**

5.1 विवरण की अधिकता

5.2 गति का प्रयोग

5.3 स्मृति का प्रयोग

5.4 इतिहास का प्रयोग

5.5 लोकभाषा का प्रयोग

5.6 जादुई भाषा का प्रयोग

5.7 यौन से जुडे शब्दों का प्रयोग

5.8 पात्र की आलोचनात्मक भूमिका

उपसंहार **187-191**

संदर्भ ग्रंथ सूची **192-200**

प्राक्कथन

प्राक्कथन

मूल्य उन लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग को कहते हैं जिसमें संपूर्ण मानव, समाज और पूरे प्रकृति का ही हित निहित है। मूल्य में नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ आदि का विवेचन है। मूल्य मनुष्य की चित्तवृत्ति को शुद्ध कर सत्य की प्राप्ति के योग्य बनाते हैं। मूल्य सामाजिक व्यवहार को प्रभावित कर लोकमंगल की साधना में सहायक होते हैं। मूल्य के संबंध में परंपरागत दृष्टि से कई अवधाराणाएँ प्रचलित हैं। उनमें कई अवधारणाएँ समाज में प्रतिष्ठित ताकतों द्वारा निर्धारित किये गये वर्चस्ववादी मूल्य व्यवस्था है जिसमें उन तमाम ताकतों के मकसद की पूर्ति केलिए बनायी गयी थी। समय के साथ उन मूल्य व्यवस्था के प्रति सामाजिक मानसिकता बदल गयी। समाज के हित चाहनेवाले लोग इन व्यवस्था के प्रति आवाज़ उठाने लगे। साहित्यकार भी समाज के इस बदलाव को अपनी रचनाओं में रेखांकित कर रहे हैं।

यहाँ शोध केलिए चुना हुआ विषय है- **'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में मूल्य एवं सामाजिक मानसिकता: एक अध्यय (चुने हुए उपन्यासों के संदर्भ में)'**।

अध्ययन की सुविधानुसार प्रस्तुत शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में बाँटा है।

पहला अध्याय है- **'मूल्य एवं सामाजिक मानसिकता : एक अध्ययन'**। इस अध्याय में मूल्य; उद्‌भव एवं विकास, परिभाषा एवं दृष्टिकोण, मूल्यों का वर्गीकरण, भारतीय जीवन मूल्य, मूल्य संबंधी पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण में अंतर, मूल्य, संस्कृति और सभ्यता, मूल्य और साहित्य के संबंध को स्पष्ट करते हुए मूल्य निर्माण में सामाजिक मानसिकता के योगदान पर अध्ययन किया है।

दूसरा अध्याय है- **'समकालीन हिन्दी उपन्यास: एक अन्तर्यात्रा'**। इस अध्याय में समकालीन हिन्दी उपन्यासों के विचारात्मक एवं भाषात्मक प्रवृत्तियों का परिचय देकर उसके विभिन्न आयामों पर अध्ययन किया है।

तीसरा अध्याय है- **'मूल्य संक्रमण की स्थितियाँ समकालीन हिन्दी उपन्यासों में'**। प्रस्तुत अध्याय में इक्कीसवीं सदी के चुने हुए दस उपन्यासों में मूल्य संक्रमण की स्थितियों पर अध्ययन किया है।

1. अन्हियारे तलछट में चमक (2014) - अल्पना मिश्र
2. आख़िरी कलाम (2003) - दूधनाथ सिंह
3. गिलिगडु (2003) - चित्रा मुद्गल
4. दर्दजा (2016) - जयश्री रॉय
5. निर्वासन (2014) - अखिलेश
6. मंडी (2007) - बृजिश शुक्ल
7. परछाईं नाच (2000) - प्रियंवद
8. हल्फनामे (2006) - राजू शर्मा
9. होस्टल के पन्नों से (2011) - मनोज सिंह
10. ये दिये रात की ज़रूरत थे (2014) - कविता

चौथा अध्याय है- **'सामाजिक मानसिकता : समकालीन हिन्दी उपन्यासों में'**। इस अध्याय में पितृसत्ता की मानसिकता, स्त्री की मानसिकता, जातिवादी मानसिकता, साम्प्रदायिक ताकतों की मानसिकता, भीड की मानसिकता, बुद्धिजीवियों की मानसिकता, राज्य या स्टेट की मानसिकता, नव उपनिवेशवादी पूँछीवादी

मानसिकता, उपभोगवादी मानसिकता, युवा मानसिकता आदि पर अध्ययन करके मूल्य संक्रमण केलिए कारण बनने वाले तत्वों पर गहराई से अध्ययन किया है।

पाँचवाँ अध्याय है- **'अभिव्यक्ति की नवीनता : समय की माँग'।**

वर्तमान जटिल और गतिशील समय के यथार्थ को समूची बदलाव के साथ पकड़ने की कोशिश समकालीन हिन्दी उपन्यासकार कर रहे हैं जिसकी वजह से उनकी भाषा में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। प्रस्तुत अध्याय में चुने हुए उपन्यासों में अभिव्यक्त हुई नई भाषागत प्रवृत्तियों पर अध्ययन किया है।

अंत में **'उपसंहार'** है। इसमें सभी अध्यायों से उभरे मुख्य बिन्दुओं को उजागर किया है। उपसंहार के बाद अंत में मैंने **सहायक ग्रन्थ सूची** भी प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध कालिकट विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के असिस्टेन्ट प्रोफेसर **डॉ. हेरमन. पी.जे** के निर्देशन में संपन्न हुआ है। उन्होंने समय-समय पर अपने स्नेह भरे प्रोत्साहन, मूल्यवान सुझाव एवं प्रेरणा देकर मेरी शंकाओं का निवारण किया है। मैं हृदय से सदैव उनकी आभारी हूँ।

कालिकट विश्वविद्यालय के असोसिएट प्रोफेसर **डॉ. वी.के. सुब्रमणियन जी** के प्रति मैं आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपने मूल्यवान विचारों से अनुग्रहीत किया। विभाग के उन सभी गुरुजनों को भी मैं इस अवसर पर कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने इस शोध कार्य की पूर्ति में मेरी सहायता की है। शोध छात्रों, दफ्तर व पुस्तकालय के आधिकारियों का स्नेह, प्रोत्साहन और सहायता के प्रति भी मैं विशेषरूप से आभारी हूँ।

शोध सामग्री संकलन के लिए मैं ने जे.एन.यू, दिल्ली विश्वविद्यालय, केन्द्रिय हिन्दी निदेशालय, केरल विश्वविद्यालय आदि संस्थानों के पुस्तकालय का उपयोग किया था। वहाँ के सभी अधिकारियों के प्रति भी मैं इस अवसर पर आभार व्यक्त करती हूँ।

व्यक्ति के जीवन के किसी भी कार्य का शुभपर्यवसान उसके परिवारवालों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता और मेरा सौभाग्य है कि मेरे परिवारवालों ने मुझे तन-मन-धन से पूरा सहयोग दिया है। मेरे पिताजी, माताजी के प्रति आभार मैं शब्दों से व्यक्त नहीं कर सकती। वे अपनी सारी कठिनाइयों के बीच भी मुझे जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा एवं हिम्मत प्रदान करते रहे और शान्तिपूर्वक अध्ययन के लिए उचित वातावरण भी प्रदान किया। मेरा भाई, भाभी, बहन, सासुमाँ ने भी मुझे प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर साथ दिया। अन्त में अपने प्रिय पति और बेटे के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिन्होंने मेरे सपने को अपना मानकर परिवार की व्यस्तताओं से मुझे मुक्त कर, शान्तिपूर्ण अध्ययन का वातावरण प्रदान किया। इसके साथ-साथ मैं अपने परिवारवालों, मित्रों, विभाग और पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति की कृतज्ञता अर्पित करती हूँ।

आगे मैं इस शोध प्रबन्ध का टंकण कार्य करनेवाली श्रीमती षैला जी को भी धन्यवाद अदा करती हूँ।

विनीता,

शहला. के.पी
शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय

पहला अध्याय

मूल्य एवं सामाजिक मानसिकता : एक अध्ययन

1.1 मूल्य : अवधारणा

मानव द्वारा अपनाये गये मूल्य परिकल्पना उसके सामाजिक संबंधों की आधार शिला है। मूल्यों के माध्यम से मानव, मानव से, प्रकृति से और अन्य जीव जंतुओं से व्यवहार करने की एक कल्पित बल्कि अनौपचारिक आचार संहिता प्रस्तुत होते हैं। किसी समाज के सामाजिक मानसिकता व बोध वहाँ के मूल्य परिकल्पनाओं को साकार रूप देने में सहायक होते हैं। समय-समय पर समाज अपने अनुभवों के तहत अपनाये गये नैतिक मूल्य प्रायः हर जगह और जनविभाग में पाये जाते हैं। कुछ ख्रास संदर्भों में बाह्य संपर्क और वैयक्तिक अनुभवों के फलस्वरूप समाज में नूतन मूल्यबोध का निर्माण होते हैं। कभी-कभी समाज के तथाकथित अधिशासी लोग अपने ही रुचि एवं इच्छा के अनुसार मूल्यों को गढ़ लेते हैं और बख़ूब उसका प्रचार करते हैं। इस प्रक्रिया में वे सत्ता एवं शासन तंत्र का सहारा लेते हैं। समाज के इस चिर प्रचलित मूल्य व्यवस्था के ख़िलाफ इने गिने आवाज़ आते रहते हैं तथा वे समाज केलिए नये मूल्यों का सृजन भी करते हैं।

मानव को केंद्र में रखकर उसकी समस्याओं पर सहानुभूतिपरक दृष्टि डालते हुए उसका युक्तिपरक विश्लेषण करना मूल्य संहिताओं का लक्ष्य है। दर्शन एवं तत्व शास्त्र का मूल्यबोध के निर्माण में अहम भूमिका रहती है। मूल्य रूपी धरोहर को समाज में और आगामी पीढ़ी को सौंपने में कला और साहित्य का भी महत्वपूर्ण योगदान हैं।

मानवता के आधारभूत मानदण्डों को निर्धारित करते हुए मानव को अन्य जीवजालों से पृथक परिभाषित करते हुए इस धरती के नियंत्रक तथा संरक्षक के रूप में कल्पित करके जिन आचार संहिताओं का निर्णय किया गया जिसके आधार पर

रूपायित दार्शनिक अवधारणा ही मानवता है। परंपरा ने समाज में परंपरागत दृष्टि से पुरुष सत्तात्मक ढ़ाँचे के अनुसार एकपक्षीय रूप में सामाजिक व्यवस्थाओं, आचारों और धार्मिक विश्वास तथा सांस्कृतिक अनुष्ठानों का गठन तथा नियम संहिताओं का निर्माण किया गया है। इन आचार संहिताओं में वर्ण व्यवस्थाओं की वरीयता तथा पुरुष सत्तात्मक ढाँचे का सृजन करने की विशेष साज़िश रही है और मानवता को पूर्ण रूप से निकाल दिया गया है। लेकिन सामाजिक व्यवस्था तथा जिससे रूपायित सामाजिक मानसिकता दुनिया को यही सीख देती है कि किसी भी प्रचलित संस्थापित मूल्य संहिताओं से बढ़कर मानवता ही सबसे परम उत्कृष्ट मूल्य है जिसके बिना धरती पर मानव राशि का अस्तित्व असंभव है।

मनुष्य का जीवन मूल्य उसकी संपूर्ण जातीय चेतना का प्रतिफलन होता है। उसका समग्र परिवेश, उसके वर्तमान का निर्माण करनेवाला संपूर्ण अतीत, साहित्य, कला, दर्शन में व्यक्त सौंदर्यबोध और चिंतन ये सभी मूल्य चेतना का निर्माण करते हैं। इसलिए मूल्य शब्द की व्याख्या करना और सामाजिक मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में आंकना एक संकीर्ण कार्यक्रम है। अतः मूल्य संबंधी व्याख्या को निश्चित रूप से आयामित करना अधिक कठिन कार्य होता है।

1.1.1 मूल्य : उद्‌भव एवं विकास

मूल्य शब्द संस्कृत की 'मूल'धातु के साथ 'यत्' प्रत्यक्ष जोडने से बना है जिसका आशय है कीमत या मज़दूरी। मूल्य का अंग्रेज़ी पर्यायवाची शब्द 'value' है जो लैटिन भाषा के 'valere' से बना है जिसका अर्थ 'अच्छा' और 'सुंदर' होता है। मूल्य शब्द के इस अर्थ में शिवं और सुंदरम निहित है।

लोक व्यवहार में 'मूल्य' शब्द प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होते हैं- 'मूल्य' और 'मोल'। दोनों शब्दों का धाराणात्मक अभिप्राय कीमत अथवा दाम है। संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार मूल्य किसी वस्तु के विनिमय में दिये जानेवाला धन, दाम, कीमत या बाज़ार भाव आदि है। कीमत या मूल्य वस्तु की उपयोगिता का सापेक्ष परिमाप होता है। वह विनिमय की अवधारणा को सचेत करता है। उपयोगिता के अर्थ में मूल्य वस्तु की उस क्षमता को व्यक्त करता है, जो मानव की आवश्यकताओं और इच्छाओं को संतुष्टि प्रदान करती है।

इस प्रकार मूल्य आर्थिक स्तर से अर्थ विस्तार होकर मूल्य शब्द 'मानदंड', 'प्रतिमान' आदि अर्थ की भी अभिव्यक्ति करने लगा। आदर्श से जुडे नियम (नार्म्स) को 'प्रतिमान' कहते हैं। यह जो प्रतिमान है वह समाज के एक समूह के विश्वासों के रूप में जीवन के आंतरिक तत्व को मूल्य कहा जाता है। हिन्दी साहित्य कोश में 'मूल्य' और 'प्रतिमान' को समानार्थी शब्द माना गया। अज्ञेय ने मूल्य और प्रतिमान को पर्याय मानते हैं- ''हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव विवेक है।''[1]

डॉ.पुष्पपाल सिंह ने मूल्य को मनोवृति, इच्छा, प्रतिमान आदि से अलग मानते हुए कहते हैं- ''मूल्य को कभी-कभी मनोवृत्ति या रुख Attitude ही मान लिया जाता है, किंतु मूल्य सामाजिक होते हैं, सर्वमान्य होते हैं जबकि मनोवृत्ति या रुख मात्र वैयक्तिक ही अधिक है। इसी प्रकार 'मूल्य' इच्छा ('डिज़इर') और आवश्यकता ('नीड') से भी पृथक है। इच्छा किसी वस्तु स्थिति को प्राप्त करने की कामना है।

कभी-कभी यह कामना इतनी तीव्र हो सकती है कि 'आवश्यकता' (नीड) का ही रूप धारण कर ले।"[2]

1.1.2 परिभाषा एवं दृष्टिकोण

मूल्य आधुनिक चिंतन का अत्यधिक प्रचलित शब्द है। प्रत्येक विचारक अपने क्षेत्र के अनुसार ही मूल्य को परिभाषित करता है, फलतः मूल्य की कोई सर्वमान्य एवं व्यापक परिभाषा नहीं बन पायी। परिभाषा देने के संदर्भ में कठिनाई यह है कि मानसिक तत्व पर अवस्थित किसी वस्तु को परिभाषित करना संभव नहीं होता। फिर भी मूल्य का स्वरूप स्पष्ट करने केलिए विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का आधार लेना उचित है।

डॉ. देवराज के अनुसार- "मूल्य किसे कहते हैं इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरे प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित है कि मनुष्य किन चीज़ों को मूल्यवान समझता है। अन्ततः मूल्यवान वस्तु वह है जिसकी मनुष्य कामना करता है।"[3] उनके अनुसार मूल्य किसी वस्तु की मानवीय इच्छा को तृप्त करने की विश्वास क्षमता ही मूल्य है। मूल्यों के मानवीय एवं साहित्यिक संदर्भ के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष को धर्मवीर भारती ने 'मानव मूल्य और साहित्य' में सविस्तार प्रस्तुत किया है। उसकी भूमिका में मूल्य संबंधी उसका दृष्टिकोण का विवरण दिया है। "जब हम मानव मूल्य की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। अपनी परिस्थितियाँ, इतिहास- क्रम और काल प्रवाह के सन्दर्भ में मनुष्य की स्थिति क्या है और महत्व क्या है- वास्तविक समस्या इस बिन्दु से उठती है। समस्त मध्यकाल में इस निखिल सृष्टि और इतिहास-क्रम का नियन्ता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ता को माना जाता था। समस्त मूल्यों का स्रोत वही था और मनुष्य की

एकमात्र सार्थकता यही थी कि वह अधिक से अधिक उस सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने का चेष्टा करे। इतिहास या काल-प्रवाह उसी मानवोपरि सत्ता की सृष्टि का माया रूप में या लीला रूप में। ज्यों-ज्यों हम आधुनिक युग में प्रवेश करते गये त्यों-त्यों इस मानवोपरि सत्ता का अवमूल्यन होता गया। मनुष्य की गरिमा का नये स्तर पर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपने में स्वतः सार्थक और मूल्यवान है- वह आन्तरिक शक्तियों के सम्पन्न, चेतना- स्तर पर अपनी नियति पर निर्माण केलिए स्वतः निर्णय लेने वाला प्राणी है। सृष्टि के केन्द्र में मनुष्य है।"[4] यहाँ यह स्पष्ट है कि मूल्यों का आधार मनुष्य है तथा मानवीय गरिमा ही सर्वोच्च है।

समाजशास्त्री आर.के मुख्रर्जी के अनुसार- "A value is a complex *Gestalt,* a conscious vital-social-ideal situation. Value is experienced in the total situation: and is neither purely or primarily biological, social or mental."[5] उनके अनुसार उस पूरे माहौल का समेकित अनुभव को मूल्य कहते हैं जो न ही पूर्णतः और प्रारंभिक दृष्टि से जैविक है, न सामाजिक है और न ही मानसिक है। इस मूल्यानुभव के कई चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में प्रारंभिक मूल्य उन महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ, लक्ष्य, आदर्श, और नैतिक प्रतिमानों से संबंधित है। मनुष्य की रुचि या प्राथमिक आवश्यकताओं के आधार पर चयनित या निर्धारित लक्ष्य ही मूल्यानुभव का प्रथम चरण है। उपर्युक्त लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग निर्धारण करना ही मूल्यानुभव का दूसरा चरण है। अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति का सही मार्ग ही मूल्य है।

मूल्य समाज के क्रिया-कलाप का नियमन करते हैं। इसीलिए दुर्ख्रीम जैसे प्रसिद्ध समाजशास्त्री ने सामाजिक मूल्यों को ही आदर्श माना और वे मूल्य को सामाजिक तथ्य के रूप में विवेचित करते हुए कहते हैं-"व्यक्ति की अपेक्षा समाज ही मूल्यों का सर्वप्रथम निर्माता, अंतिम मानदंड और अंतिम उद्देश्य है।"[6] राधाकमल

मुखर्जी, बौगार्डस जैसे समाजशास्त्री मूल्यों को समाज-संदर्भ में ही आंकते हैं। बोगार्डस कहता है- ''विभिन्न प्रकार के पर्यावरण में मनुष्य मूल्यों एवं प्रतीकों का विकास करता है। यह मानव मस्तिष्क में एक साथ जन्मते हैं, सुधारते है। यही नहीं प्रत्येक अलगाव एवं विभेद के समय मानव को एक साथ बाँधते हैं।''[7] इस प्रकार समाज में मूल्यों का विशेष अस्तित्व होता है। दुर्ख्रीम ने मूल्यों की विवेचना सामाजिक तथ्य के (social fact) रूप में ग्रहण की है। ''सामाजिक मूल्य किसी एक व्यक्ति के मूल्य नहीं है वरन् यह तो सभी सदस्यों के मूल्य होते हैं। इस प्रकार की स्थिति में यह सभी व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। यही नहीं वरन् उन्हें एक विशेष प्रकार के व्यवहार केलिए बाध्य भी कराते हैं।''[8]

कार्ल मार्क्स ने श्रम के मूल्य को महत्व दिया है। उन्होंने पूँजीवाद की आलोचना करते हुए आर्थिक आधारों पर मूल्यों की व्याख्या की है। उनके अनुसार स्वतंत्रता और व्यक्तित्व का सम्मान महत्वपूर्ण मूल्य होते हैं। मार्क्स ने साम्यवादी मूल्यों की व्याख्या प्रस्तुत की है जिसके अनुसार निजी पूँजी का अन्त, वर्ग या जातियों की समाप्ति और प्रत्येक को अपनी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार सुख, साधन और सुविधाएँ उपलब्ध होना आवश्यक है।

कांट ने भी मूल्यों के संबंध में अपना आदर्शवाद सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। समाज के कतिपय आदर्श होते हैं जो कि समाज, संस्कृति और मानव का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। यह आदर्श ही मूल्यों का निर्धारण करते हैं। मूल्य संबंध में कांट ने मानवता को महत्व दिया है। ''हमें मानवता को सदा साथ रखना चाहिए, चाहे हम स्वयं के साथ या दूसरों के साथ व्यवहार कर रहे हों। मानवता सदा साध्य हो साधन के रूप में इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए।''[9]

उपर्युक्त परिभाषाओं पर अध्ययन करते वक्त यह प्रश्न उठता है कि मूल्य वस्तुनिष्ठ है अथवा व्यक्तिनिष्ठ। यहाँ दो वर्ग के विचारक होते हैं। प्रथम वर्ग वह है जो मूल्य को व्यक्ति की इच्छा और आकांक्षा से जोडते हैं। इस वर्ग के विचारकों का तर्क है कि मूल्य वस्तु में न रहकर उसके प्रति मानव के दृष्टिकोण में निहित है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक स्थिति के आधार पर किसी भी वस्तु का मूल्य निर्धारित होते है। अगर वस्तु में मूल्य होता, तो सभी केलिए मूल्य एक जैसा ही होता है। मूल्य किसी वस्तु में न होकर उस वस्तु को देखनेवालों के मन में होते हैं। इसीलिए मूल्य परिवर्तित होते रहते हैं। मूल्यों को परिभाषित करते समय उसमें होनेवाले बदलाव का कारण आत्मनिष्ठा ही है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि व्यक्ति अपनी सारी मूल्य-व्यवस्था का निर्माण स्वयं करता है। व्यक्ति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित है, इनमें आदान-प्रदान सहज ही है, किन्तु समाज में प्रचलित मूल्य भी मूलतः व्यक्ति द्वारा ही प्रस्तुत होते हैं। स्वीकृत अथवा बहुप्रचलित होने के पश्चात ही वे सामाजिक हित के निकष बनते हैं।

वस्तुनिष्ठ मूल्य का सम्बन्ध व्यक्ति से नहीं बल्कि बृहत् समाज के शुभ से होता है, यह व्यक्ति सापेक्ष नहीं होता। नैतिकता किसी भी कृत्य के मूल्य को शुभ और अशुभ की श्रेणी में इंगित करती है। यदि किसी कृत्य का मूल्य सभी लोगों के लिए शुभ है तो वह वस्तुनिष्ठ साबित होता है। उदाहरण केलिए लोकतंत्र में स्वतंत्रता, समानता और बंधुता एक वस्तुनिष्ठ मूल्य है। जबकि किस व्यक्ति विशेष या समाज विशेष केलिए मूल्य अलग हो सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य एक व्यापक शब्द है जो सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि संदर्भों में विभिन्न अर्थ छायाओं का व्यंजक है।

मूल्य में नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ आदि का विवेचन है। मूल्य मनुष्य की चित्तवृत्ति को शुद्ध कर सत्य की प्राप्ति के योग्य बना सके। मूल्य सामाजिक व्यवहार को प्रभावित कर लोक-मंगल की साधना में सहायक होते हैं।

1.1.3 मूल्यों का वर्गीकरण

सामाजिक दृष्टि से मूल्यों की चर्चा में व्यक्ति एवं समाज को आधार बनाकर वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्य के दो भाग किए गए हैं। व्यक्तिगत मूल्य इंद्रियबोध, भावनात्मक विकास एवं जीवन संघर्ष का परिणाम है जो समाज पर या तो सीधे प्रभाव डालते हैं या केवल विशेष व्यक्ति तक सीमित रहते हैं। रस्किन, मार्क्स, लेनिन आदि चिन्तकों ने वैज्ञानिक चिन्तनधारा के आधार पर सामाजिक श्रम के द्वारा मूल्यों की उत्पत्ति स्वीकार की। इसमें श्रम की महत्ता पर विशेष बल दिया जाता है। मार्क्स की वर्गीय चेतना को श्रम, संघर्ष में समझा जा सकता है। इस प्रकार मार्क्सवादी चिंतन का प्रभाव डॉ. मेघ के मूल्य विभाजन में देख्र सकते हैं।

पाश्चात्य विचारक अर्बन ने मूल्यों को स्थूल रूप से निम्नलिखित आठ वर्गों में विभाजित किया है। 1. शारीरिक मूल्य 2. आर्थिक मूल्य 3. मनोरंजनात्मक मूल्य 4. सामाजिक मूल्य 5. चरित्रात्मक मूल्य 6. सौंदर्यात्मक मूल्य 7. बौद्धिक मूल्य 8. धार्मिक मूल्य एवं ईश्वर विषयक मूल्य। मूल्यों के उपर्युक्त विभाजन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्बन भारतीय चिंतनधारा से प्रभावित थे। इसमें लेख्रक ने शारीरिक एवं आर्थिक मूल्यों को प्राथमिकता दी है। क्योंकि शरीर को ही सभी आदर्शों का पालन करने केलिए मुख्य साधन माना गया है तथा शरीर पोषण हेतु अर्थ या धन की आवश्यकता रहती है। अर्बन पश्चिमीय भौतिकवाद का भी समर्थक है। उसने शारीरिक मूल्यों के साथ ही आध्यात्मिक मूल्यों को भी स्वीकारा है।

अरबन की भाँन्ति पाश्चात्य विद्वान जार्ज एडगिन प्यू ने मूल्य विभाजन सविस्तार सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने शारीरिक आवश्यकताओं एवं मूल प्रवृत्तियों को दृष्टियों में रखते हुए मूल्य चर्चा में मानव के निर्णय, व्यवहार और बौद्धिक विकास को आधार बनाया है। प्यू की दृष्टि में सभी मूल्य समय, आवश्यकता, स्थिति के अनुसार महत्वपूर्ण है। उनका मूल्य-विभाजन निम्न क्रम में है। "1. स्वनिष्ठ मूल्य अथवा शारीरिक मूल्य (Selfish values), 2. सामाजिक मूल्य (Social values), 3. बौद्धिक मूल्य (Intellectual values)"[10]

अन्य अनेक विचारकों ने मूल्यों में विभाजन प्रस्तुत करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार श्रेणीबद्ध किया है। प्रमुख रूप से मूल्य को भौतिक-आध्यात्मिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि अनेक भागों में विभाजित किया जा सकता है। पाश्चात्य मूल्य चिन्तकों में अरबन, प्यू का वर्गीकरण सटीक तथा सविस्तार है। भारतीय मूल्य चिंतकों में डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रमेश कुन्तल मेघ तथा डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे का मूल्य विभाजन में प्रायः सभी मूल्यों को प्रस्तुत किया है।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ स्वयं मानते हैं कि मूल्यों का कोई निश्चित वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। फिर भी उन्होंने कुछ धारणाओं के आधार पर मूल्यों का वर्गीकरण किया है। कबीलाई मूल्य, पारिवारिक मूल्य, प्रकृत मूल्य, व्यक्तिगत मूल्य, भोगवादी मूल्य, धार्मिक मूल्य, नैतिक मूल्य, सौंदर्यबोधात्मक मूल्य आदि में विभाजन करके सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य धारणाएँ भी परिवर्तित होने की बात पर डॉ. मेघ ने अपना विचार प्रकट की है।

डॉ. रमेशचंद्र लवानिया ने मूल्य विभाजन करते हुए निम्नांकित आधार बतलाये हैं।

"1. वैयक्तिक मूल्य
2. समष्टिगत मूल्य
3. आध्यात्मिक मूल्य
4. भौतिक मूल्य
5. नैतिक मूल्य
6. सौंदर्यपरक मूल्य।"[11]

डॉ. रमेशचंद्र लवानिया में वैयक्तिक मूल्य में व्यक्ति स्वातंत्र्य को महत्व दिया। व्यक्ति के विकास में उसकी आवश्यकता बतायी। प्रेम, सौन्दर्य, सत्य, दायित्व, स्वाभिमान, काम संबंधी अभिवृत्तियों को उन्होंने इसी कोटी के अंतर्गत समाहित किया। समष्टिगत मूल्य में राष्ट्रप्रेम, समाजप्रेम, मानवता, अहिंसा, दया, त्याग, क्रान्ति और समन्वय की अभिवृत्ति आदि है। आध्यात्मिक मूल्य धर्म और मोक्ष संबंधी मूल्य और भौतिक में अर्थ, पद और यश की आकांक्षा को महत्व दिया। नैतिक मूल्य के अंतर्गत समाज, धर्म और राष्ट्र द्वारा निर्मित नियम संबंधी मूल्य और दया, त्याग, दाक्षिण्य, पवित्रता, धर्म, सत्ता और शान्ति को रेखांकित किया। सौन्दर्य मूल्य में प्रकृति सौन्दर्य, मानवीय सौन्दर्य और अन्तः सौन्दर्य का चित्रण को प्रधानता दी।

अनेक विद्वानों ने मूल्यों को वर्गीकृत किया है लेकिन आज जो मूल्य मुख्यतः समाज के अंग बने दिखाई देते हैं- सांस्कृतिक मूल्य, राजनीतिक मूल्य, वैज्ञानिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य आदि।

1.1.3.1 सांस्कृतिक मूल्य

मनुष्य के अंतर्गत आस्था और विश्वास का निर्माण ही संस्कृति है। संस्कृति संस्कार जनित होती है। संस्कृति और मूल्यों का अटूट संबंध है। धर्म द्वारा निर्देशिक जीवन मूल्यों का पीढ़ी दर पीढ़ी अनुपालन करना सांस्कृतिक मूल्य है। धार्मिक संस्कारों को जीवन में अपनाने का आग्रह और अनुपालन ही सांस्कृतिक मूल्य है।

संस्कृति मनुष्य को विकसित या सुसंस्कृत बनाती है। व्यक्ति के स्वार्थपरक विचारों में परिवर्तन हो जाता है और मानवीय गुणों का विकास संस्कृति के ही कारण होता है। प्रत्येक जाति, धर्म, की निर्धारित सांस्कृतिक मान्यता होती है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान से सामंजस्य बढता है। परिणामतः 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना प्रबल होती है।

1.1.3.2 व्यक्तिगत मूल्य या वैयक्तिक मूल्य

वैयक्तिक जीवन मूल्यों के अंतर्गत व्यक्ति प्रधान होता है। व्यक्ति की भावनाएँ और इच्छाएँ प्रमुख होती है। व्यक्तिगत मूल्य व्यक्ति और समाज के विकास केलिए अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति के विकास के साथ समाज के विकास में भी ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर सदाचार, मर्यादा, नियम-पालन, सत्य, स्वाभिमान आदि को बनाए रखते हैं। व्यक्तिगत मूल्यों का विकास समाज में रहकर ही हो सकता है, समाज से बाहर नहीं।

1.1.3.3 नैतिक मूल्य

नैतिक और अनैतिक का निर्णय करना आसान नहीं है। कुछ विद्वान मानते हैं की मानव-कल्याण नैतिक है इसके संदर्भ में यदि कोई कुछ कार्य करता है, तो एक

वर्ग उसे नैतिक मानता है, दूसरा अनैतिक। आदि समय में लोगों ने ईश्वर को ही नैतिकता का आधार माना था। फिर उनके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को। धीरे-धीरे मानवतावाद पनपा और मानव को नैतिकता का आधार माना जाने लगा। डॉ. धर्मवीर भारती ने लिखा है कि मानवतावाद के उदय में ईश्वर जैसी किसी मानवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का अधिनायक न मानकर मनुष्य को ही इस मूल्यों का विधायक मानने की प्रवृत्ति विकसित हुई है।

नैतिक मूल्य मानव जीवन को श्रेष्ठ बनाने में मदद करते हैं। इसी कारण इन मूल्यों में शुभ, सुख और अच्छा का समावेश होता है। इन सभी सद्‌गुणों में यही मूल्य निहित होते है- राग-द्वेष, प्रेम, अहिंसा, करुणा, अच्छाई, पवित्रता, कर्तव्यबोध, उत्तरदायित्व आदि सभी नैतिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। नैतिकता में मानवीय स्वतंत्रता और समाज-कल्याण की भावना प्रमुख रहती है। भारतीय चिंतकों ने नैतिक मूल्यों को धर्म के अंतर्गत माना है और उन्हें अलग रखने की आवश्यकता नहीं मानी। इनके अनुसार नैतिक मूल्य ही जीवन को सार्थक और उपयोगी बनाते हैं।

1.1.3.4 धार्मिक मूल्य

भारतीय धर्मशास्त्रियों ने पुरुषार्थ चातुष्ट्य में धर्म को सर्वोपरि माना है। धर्म व्यक्ति के आचारण को नियंत्रित करके सात्विक प्रवृत्तियों पर बल देता है। "धर्म केवल बाह्याचार और कर्मकांड मात्र नहीं, वह मनुष्य के अंतःस्थल में स्थित, वह चिरन्तन भावना है जो मानव की काम और अर्थमूलक प्रवृत्तियों का नियमन और संस्कार करती है। इसके अभाव में काम और अर्थ दोनों अनियंत्रित हो जाते हैं क्योंकि वे स्वतः अपना नियंत्रण नहीं कर सकते।"[12] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी धर्म को मंगलकारी मानते हुए कहा है कि- "धर्म विषयक अवधारणा मात्र ईश्वर और

उसकी उपासना ही नहीं है, बल्कि व्यक्ति को उचित अनुचित का बोध कराने वाली वह व्यवस्था या प्रवृत्ति है, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, अभ्युदय की सिद्धि होती है।"[13]

1.1.3.5 राजनीतिक मूल्य

राजनीतिक मूल्य से आशय राज्य के उन संचालक मूल्यों से हैं जो नैतिक, सामाजिक और धर्मानुरूप हों, इनके अंतर्गत स्वतंत्रता, समानता और शांति आते हैं। व्यक्तित्व के विकास केलिए स्वतंत्रता परम आवश्यक है, किन्तु यह स्वतंत्रता दूसरे के अधिकारों का हनन न करती हो, दूसरों को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचती हो, इसके विपरीत जो स्वतंत्रता है, वह दण्डनीय है। हर व्यक्ति की यह नैतिक ज़िम्मेदारी है, कि वह अपने अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी निर्वाह करे, ये कर्तव्य देश, समाज और अन्य व्यक्तियों के प्रति होते हैं। मनुष्य को अपना सर्वांगीण विकास करने केलिए स्वतंत्रता की आवश्यकता पडती है, यह स्वतंत्रता बाहरी ही नहीं, आंतरिक भी होती है। समानता को हम व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखे तो पाते हैं, कि हर व्यक्ति को अपना बहुमुखी विकास करने केलिए समानता का अधिकार चाहिए। इन सबके मूल में शान्ति होनी चाहिए।

देश और राष्ट्र को चलाने केलिए राजनीतिक मूल्यों की आवश्यकता पडती है जिसके अंतर्गत स्वतंत्रता, समानता, अधिकार, कर्तव्य-बोध, व्यवस्था, प्रशासन चलाने की क्षमता राजनीति और राजनेताओं से संबंधित मूल्य आते हैं।

1.1.3.6 सौंदर्यात्मक मूल्य

मनुष्य प्रारंभ से ही सौंदर्य के प्रति आकृष्ट रहा है। यह सौंदर्य वस्तु में स्थित रहता है तो वस्तुगत कहलाता है पर वस्तु का सौंदर्य मनुष्य प्रदान करता है इसलिए

प्रेषणीय होता है। व्यक्ति को सौंदर्यात्मक मूल्यों द्वारा शिव और आनंद की प्राप्ति होती है। डॉ. रमेशकुन्तल मेघ मानते हैं कि सौंदर्यात्मक मूल्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम कला है, और ये मूल्य कालजन्य जन और परिस्थिति सापेक्ष होते हैं। इसलिए हम इनकेलिए कोई आधार सूत्र या अप्राप्त वाक्य नहीं कर सकते।

सौन्दर्यात्मक मूल्य परिस्थिति और काल सापेक्ष होते हैं। इनके द्वारा सत्यम् शिवम् सुन्दरम् और आनंद प्राप्ति होते हैं। जब 'मानव' को किसी विशेष प्रकार के आनंद की अनुभूति होती है, और जिससे वह अपने अहम् की भूख उसी अनुभूति में खो जाता है वहीं उसे वास्तविक सौंदर्य देखने और महसूस करने को मिलता है।

1.1.3.7 आर्थिक मूल्य

भारतीय दर्शन के अनुसार अर्थ को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। इस जीवनमूल्य का उद्देश्य केवल वैयक्तिक लाभ न होकर लोक मंगल होना चाहिए. मानव जीवन की परिपूर्णता केलिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि महत्वपूर्ण मानी गयी है। इन पुरुषार्थों का परस्परं घनिष्ठ संबंध है। इन चारों में से किसी एक को सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावी मानना अनुचित माना गया है। लेकिन आज 'अर्थ' को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हो गया है। सब लोग अर्थ के पीछे भागते हैं। मज़दूर, किसान, मध्यवर्गीय परिवार आर्थिक शोषण के शिकार हो गये हैं।

1.1.3.8 वैज्ञानिक मूल्य

इस आधुनिक युग में विज्ञान के बढते हुए प्रभाव ने जीवन के सभी क्षेत्रों को आत्मसात कर लिया है। अतः जीवन मूल्यों पर विज्ञान पूर्ण रूप से हावी हो गया है। आज व्यावहारिक जीवन से विज्ञान को निकाल पाना मुश्किल है। मनुष्य के रहन-

सहन, तौर-तरीकों, आचार-व्यवहार सभी विज्ञान के कारण बदल चुके हैं अतः धर्म, दर्शन, राजनीति, संस्कृति सभी को विज्ञान की कसौटी कसा जाने लगा है। वैज्ञानिकता के प्रभाव के कारण ही श्रद्धा की अपेक्षा बौद्धिकता का महत्व हुआ। वस्तु की सत्यता की स्वीकृति के कारण पुराने रूढिगत मूल्य नकारे गये।

1.1.4 भारतीय जीवन मूल्य

भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ को जीवन मूल्य के रूप में मान्यता दी गयी है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ है मनुष्य द्वारा जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया गया प्रयास। भारतीय दर्शन शास्त्रियों ने मानव जीवन के चार मूल्य बतलाए हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म, अर्थ और काम को साधनात्मक मूल्य तथा मोक्ष को साध्यात्मक मूल्य माना गया है। भारतीय दर्शन यह मानता है कि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों के योग से मनुष्य का निर्माण होता है। शारीरिक विकास अर्थ के द्वारा, मानसिक विकास काम के द्वारा, बौद्धिक विकास धर्म के द्वारा और आत्मिक विकास मोक्ष के द्वारा होता है। इन चारों जीवन मूल्य भारतीय संस्कृति के आधार स्तंभ है।

संस्कृत-हिंदी कोष में 'धर्म' के 27 अर्थ दिए हुए हैं- 1. कर्त्तव्य, जाति, सम्प्रदाय आदि के प्रचलित आचार का पालन 2. कानून, प्रचलन, दस्तूर, प्रथा, अध्यादेश, अनुविधि 3. धार्मिक या नैतिक गुण, भलाई, नेकी, अच्छे काम (मानव अस्तित्व के चार पुरुषार्थों में से एक) 4. कर्त्तव्य, शास्त्र विहित, आचरण क्रम 5. अधिकार, न्याय, औचित्य, निष्पक्षता 6. पवित्रता, औचित्य, शालीनता 7. नैतिकता, नीतिशास्त्र 8. प्रकृति, स्वभाव, चरित्र 8. मूलगुण, विशेषता 9. रीति, समरूपता, समानता 10. यज्ञ 11. सत्संग, भद्र पुरुषों की संगति 12. भक्ति, धार्मिक

भावमग्नता 13. रीति, प्रणाली 14. उपनिषद् 15. ज्येष्ठ पाण्डव, युधिष्ठिर 16. मृत्यु का देवता यम।

पुरुषार्थ व्यवस्था में धर्म अनेकार्थी है, लेकिन मूल्य के रूप में इसका आशय मुख्यतः आचरण या नैतिक मूल्य से ही है। धर्म में नैतिक शुभत्व और सच्चरित्रता निहित है। इसीलिए इसे एक पुरुषार्थ माना गया है। धर्म लोक कल्याण और मोक्ष दोनों की सिद्धि में सहायक मानते हैं। पुरुषार्थ व्यवस्था में 'अर्थ' दूसरा पुरुषार्थ है। इससे तात्पर्य आर्थिक मूल्यों से है। यह मूल्य व्यक्ति को सुख प्राप्त कराने में और उसकी कामनाओं की संतुष्टि में सहायक है। डॉ. सुरेन्द्र वर्मा के अनुसार- "अर्थ (धनार्जन) को अर्थ (मूल्य) की कोटि में लाने का श्रेय धर्म को ही है क्योंकि वही उसे नियमित और निर्धारित करता है। धर्म के प्रवेश के बिना आर्थिक मूल्य विमूल्य हो जाते हैं। अर्थ अनर्थ हो जाता है। यह ठीक है कि धार्मिक नियमों को लागू करने केलिए आर्थिक उपलब्धियाँ एक अनिवार्यता है। किंतु बिना अर्थ के धर्म अपनी मूल्यवत्ता खो नहीं देता। लेकिन बिना धर्म के अर्थ को मूल्य रहित होने में कोई समय नहीं लगता। अर्थ को धर्म से संयुक्त करके ही मूल्यवान बनाया जा सकता है। अर्थ (वस्तुओं और धन के) अर्जन (उत्पादन), वितरण और उपभोग आदि केलिए एक धर्मानुकूल सामाजिक और कानूनी व्यवस्था आवश्यक होती है।"[14] भारतीय चिंतकों ने इस बात को माना है कि यदि एक अच्छे उद्देश्य की पूर्ति केलिए बुरे साधनों को अपनाते हैं तो साध्य भी एक हद तक दूषित हो जाता है। अतः अर्थोपलब्धि केलिए अनैतिक साधनों का उपयोग वर्जित किया गया है। और यह भी माना है कि धनार्जन केवल व्यक्तिगत इच्छाओं की संतुष्टि केलिए ही न किया जाए और केवल

उतना धनोपार्जन किया जाए जितना मूल आवश्यकताओं के पूर्ति केलिए आवश्यक हो।

मूल्यों की पुरुषार्थ पद्धति में धर्म और अर्थ से तात्पर्य नैतिक और आर्थिक मूल्यों से है। इस प्रकार काम से आशय मूलतः मनोवैज्ञानिक मूल्यों से है। जिसमें संभोग का सुख, भोजन का सुख, सौंदर्यानुभव का सुख और कलाकृतियाँ की सुखानुभूतियाँ आदि सम्मिलित है। मनुष्य की सभी कामनाएँ काम का ही रूप है। कामनाएँ मनुष्य के स्वभाव का एक अनिवार्य हिस्सा है और उनकी पूर्ति केलिए नैतिक सामाजिक स्वीकृति के तहत मार्ग होना चाहिए। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम क्रमशः नैतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है और मोक्ष को आध्यात्मिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। पुरुषार्थ व्यवस्था में मोक्ष परम पुरुषार्थ है जो साध्य है। अन्य सभी मूल्य साधन है। वस्तुतः मोक्ष आत्मानुभूति होती है। मोक्ष एक ऐसा मूल्य है जो अन्य सभी मूल्यों से निवृत्ति के उपरांत ही प्राप्त किया जा सकता है। 'महाभारत' में सभी मूल्यों का संबंध इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

"धर्ममूलः सदैवार्थः कामो*ऽ*र्थफलमुच्चते।
संकल्प मूलास्ते सर्वे संकल्पों विषयात्मकः।।
विषयाश्चैव का-र्त्स्येन सर्व आहार सिद्धये।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते।।"[15]

याने धर्म सदा से ही अर्थ प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल कहलाता है, परंतु इन तीनों का मूल कारण है- संकल्प, और संकल्प विषय रूप होता है। सभी विषय पूर्णतः इंद्रियों के उपभोग में लाने हेतु होते हैं। यही धर्म, अर्थ और

काम की मूल है, इससे निवृत्त होना ही 'मोक्ष' है। इस प्रकार भारतीय चिंतन में 'पुरुषार्थ चतुष्ट्य' की प्रतिष्ठा और अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि निष्ठाएँ भी मानी गयी हैं। इन सद्‌गुणों के अनुकूल आचरण से मोक्ष प्राप्ति की संभावना पर बल दे दिया गया है।

1.1.5 मूल्य संबंधी पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण में अंतर

मूल्यों के संबंध में पाश्चात्य दृष्टिकोण भारतीय दृष्टिकोण से भिन्न है। परंपरागत दृष्टि से भारतीय मूल्यों का आधार आध्यात्मिक चेतना रही है। भौतिकवादी जीवन पर ज़ोर न देने के कारण भारतीय मूल्य बोध का आधार एक सीमा तक आत्मीय चिंतन और उससे जन्म लेनेवाली शाश्वत शान्ति की और मोक्षप्राप्ति की भावना रही है। वस्तुतः भारतीय मान्यताएँ आत्मा की अनंत यात्रा की विविध भूमिकाओं से जुडकर किए जानेवाले कार्यकलापों पर विश्वास रखती हैं। भौतिकता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को महत्व देनेवाली प्रस्तुत चेतना भौतिक सुख भोगों का तिरस्कार करती हुई बढ़ती है। मूल्य च्युति से उत्पन्न अपराध से बचने का आदेश देती हैं। इस कारण मूल्य अवधारणा में धार्मिकता, सद्‌भावना और नैतिकता को अधिक महत्व प्राप्त होता है।

लेकिन पाश्चात्य दृष्टिकोण, भारतीय दृष्टिकोण की आध्यात्मिक भावना को मूल्य के संदर्भ में नहीं स्वीकारता। भौतिक साधनों की प्राप्ति और समाज की उन्नति, सुख भोगों का चयन आदि पर ज़ोर देने के कारण मूल्यबोध भौतिक सीमारेखाओं से घेरा हुआ है। लौकिक आचरण के निश्चित नमूनों के रूप में ही पाश्चात्य दृष्टि मूल्य को आँकती है। इसके आगे इसका कोई महत्व नहीं है। भारतीय चिन्तनधारा के अनुसार प्रत्येक मानव को आत्मिक विकास पर बल देना चाहिए। शरीर और मन का

समन्वय स्थापित करते हुए भी जीवन की मुक्ति की महत्ता को प्रतिपादित की गई है। लेकिन पश्चिम में मूल्य ऐसी तात्विक धारणा है, जिसमें मनुष्य का मनोवैज्ञानिक स्वभाव और उसकी बौद्धिक मान्यताएँ समन्वित हो जाते हैं।

1.1.6 मूल्य, संस्कृति और सभ्यता

प्राचीन मानव अपने को गुलाम समझते थे। जबसे विज्ञान का हमारे जीवन में महत्व बढ़ा, तबसे इस प्रकार के अंधविश्वास बदलने लगे। धीरे-धीरे मनुष्य इन सबसे ऊपर उठकर परिष्कृत होने लगा।

प्रकृति के साथ ही उनका मेल मिलाप था, प्रकृति से जो चीज़ें मिली, उनका वरण करके वे जीवन यापन करने लगे। फिर धीरे-धीरे वे अपने आवश्यकतानुसार चीज़ों जैसे आग, खेती आदि का आविष्कार करने लगे। उनके उत्पादनों को सुरक्षित रखने केलिए सामूहिक एकता और सुरक्षित आवास व्यवस्था की आवश्यकता महसूस हुई। इससे ही 'Cultus' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। लैटिन भाषा के शब्द 'Cultus' का अर्थ खेती केलिए हल चलाकर ज़मीन को तैयार करता है। "कल्चर का विशुद्ध पर्यायवाची वैदिक शब्द कृषि है। जैसे कृषि कर्म में भूमि का संशोधन तदुपरान्त बीजवयन किया जाता है और सिंचन निरयन आदि द्वारा आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श देकर भूमि को शाल्य सम्पन्न बनाया जाता है, वैसे ही मानव मानस में संस्कारों द्वारा विकास की भूमिका तैयार की जाती है।"[16] यह शब्द परंपरा और कर्म से अर्जित मानव व्यवहार, उदात्त जीवन मूल्य, पूर्णता को लक्ष्य करनेवाले जीवन, विकास की ओर ले जाने में सहायक कला, साहित्य जैसे माध्यम, ईश्वर और मोक्षप्राप्ति का रास्ता इन सबका पर्याय हैं। इन सारी बातों के समन्वय से ही संस्कृति बनते हैं। पाश्चात्य विद्वान ब्रेडफोर्ड स्मिथ के अनुसार "संस्कृति का अर्थ है

किसी समाज की जीवन पद्धति, जिसमें उसकी शिल्प कला, विश्वास और मान्यताएँ, संचित ज्ञान और वे मूल्य भी आ जाते हैं। इसके अलावा उसकी विकसित कलाएँ, पारिवारिक जीवन, संतान पालन, विवाह और प्रणय की प्रथा, शिक्षा व्यवसाय और शासन अर्थात उसकी शेष समूची विरासत भी जो उसके सदस्यों को उपलब्ध है या हो सकती है, उसके अंतर्गत आ जाती है।"[17]

आर.के.मुख्रर्जी के शब्दों में- "सभ्यता वह चीज़ है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है। मोटर, महल, हवाई जहाज़, पोशाक और अच्छा भोजन, ये तथा इनके समान सारी स्थूल वस्तुएँ संस्कृति नहीं सभ्यता के समान हैं। मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है वह संस्कृति की चीज़ है।"[18] डॉ.देवराज ने सभ्यता और संस्कृति को स्पष्ट करके मूल्यों के साथ इनके संबंध को चित्रित करते हुए कहा "सभ्यता और संस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम है। जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होती है तब सभ्यता का जन्म होता है और जब मूल्य चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है तब संस्कृति का उदय होता है।"[19] सभ्यता और संस्कृति में मौलिक अंतर यह है कि सभ्यता का संबंध जीवन यापन या सुख-सुविधा की बाहरी वस्तुओं से है, जबकि संस्कृति का संबंध आन्तरिक वस्तुओं से। संस्कृति विस्तृतकालीन सभ्यता की परिणति है। जिसवर्ट के अनुसार सभ्यता बताती है 'हमारे पास क्या है और संस्कृति यह बताती है कि 'हम क्या हैं'।

इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति विकास के लक्षण माने जाते हैं। सभ्यता मनुष्य जीवन का बाहरी विकास है। रहन-सहन और समाज व्यवस्था के भौतिक

उपकरण ही सभ्यता है। संस्कृति में जीवन की आन्तरिक विभूतियों का समृद्धियों का अधिक महत्व है। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति अपनी अलग-अलग पहचान रखती है उसी प्रकार मूल्य भी अपनी अलग पहचान रखती है फिर भी ये तीनों तत्व याने संस्कृति सभ्यता और मूल्य एक साथ जुडे हैं और आपस में पूरक हैं।

1.1.7 मूल्य और साहित्य

साहित्य के संदर्भ में मूल्यों का अपना विशेष महत्व होते हैं। मानव की वह धारणा जो जीवन को आगे बढ़ाती और सुरक्षित करती है, वह मूल्य कहलाती है। साहित्यकार समाज के यथार्थ और प्रचलित जीवन मूल्यों को पहचानकार उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। धर्मवीर भारती के शब्दों में- ''साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतरकर हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है, उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी संकीर्ण मतवाद का प्रचार करे या न करे, वह किसी भी तात्कालिक समस्या का स्पष्ट समाधान दे या न दे, किन्तु यदि उसमें यह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियों को संस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है।''[20] इस कथन से मूल्य और साहित्य का गहरा सम्बन्ध पहचाना जा सकता है।

साहित्य और जीवन मूल्यों के अटूट सम्बन्ध को ध्यान में रखकर शंभूनाथ सिंह ने लिखा-''साहित्य में जीवन मूल्य की अभिव्यक्ति उसी तरह सीधी, तर्कपूर्ण और वक्तव्य प्रधान नहीं होती जैसे ज्ञान-विज्ञान और नीति-धर्म के क्षेत्र में होती है।... समस्त साहित्य प्रतीकात्मक होता है, जिसमें जीवन मूल्य उपचेतन मन में से बदलकर चेतन लोक में आ जाते हैं।''[21]

समालोचना के बारे में ऐ.ए. रिचार्डस का कथन है- ''समालोचक होना मूल्यों का निर्णायक होता है।''[22] मूल्य के मनोवैज्ञानिक सिद्धाँत नामक निबंध में ऐ.ए रिचार्डस ने कविता संबंधी विचार सक्त करने से पूर्व मूल्य के परिकल्पना तथा मनोविकारों का संबंध पर अपना विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार मानव मन में एक साथ कई इच्छाएँ उत्पन्न होते हैं लेकिन इन सारी इच्छाओं को साकार करना सामान्य मानव केलिए मुमकिन नहीं है। जिसके परिणाम स्वरूप मानव के मन में कई प्रकार के संघर्ष और तनाव उत्पन्न होते हैं। मानव के उपर्युक्त इच्छाओं के श्रेणीबद्ध चयन तथा पूर्तीकरण के अनुसार ही मानव में संभाव्य संघर्ष और तनाव को कम किया जा सकता है। वे मानते है कि मन में उत्पन्न कल्पित इच्छाओं के लिखित रूप ही काव्य है। इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत स्वेच्छा से सिमटकर बंद करके रखने से जो बंधन है उसके स्थान पर सारे कण- कण से अपने को एक कर देना और उस विराट अनुभव करके जो सुख मिलता है उस आनंद को पाना और देना साहित्य का लक्ष्य है। वस्तुतः साहित्य क माध्यम से हम अपने गहरे स्तरों से भी परिचित होते हैं और दूसरों से जुड़ते भी हैं। साहित्य एक प्रकार का सेतु है जो हमको सारे समाज से, सारी मानवता से जोड़ता है।

1.2 सामाजिक मानसिकता

किसी भी समाज को पढ़ना होगा तो समाज के तमाम अंतर्विरोधों, जटिलताओं के साथ पढ़ना पडता है। सामाजिक मानसिकता समाज की पूरी क्रिया-कलाप से बनती है। समाज को प्रभावित करनेवाले ताकतों से, व्यवस्थाओं से और वह जिन चीज़ों से जुडी रहती है, आदि सब सामाजिक मानसिकता को प्रभावित करती है। सामाजिक मानसिकता का अर्थ है एक समाज की सोचने की तरीका।

भारतीय समाज में दूसरों के हित को प्रधानता देकर मूल्य व्यवस्था बनायी गयी थी जिसमें दूसरों को कभी भी अहित मत पहूँचाने का संदेश था। लेकिन वर्चस्ववादी सत्ताधारी ताकतें अपने हितों की अनुसार मूल्यव्यवस्था को बनाकर उसके अनुकूल सामाजिक मानसिकता का खूब प्रचार किया।

भारत में धार्मिक जीवन को व्यवस्थित केलिए चार पुरुषार्थों के कल्पना की मनुष्य को अपनी भलाई केलिए समाज की भलाई केलिए इनका पालन करना चाहिए था जिनमें मोक्ष ही परम मूल्य था। इसके बाद सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने केलिए वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की गयी। ब्राह्मण, श्रत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्णों में बाँटने से समाज को हित से ज़्यादा अहित पहूँचा।

मूल्यों के विकास मनुष्य के सामाजिक संरचना के विकास के साथ जुडा हुआ है। मनुष्य द्वारा नियमित रूप से परिपालित करनेवाले विश्वास एवं आशय कालांतर में मूल्यों के रूप में रूपायित हो गये। लेकिन मूल्य वह उत्कृष्ट विचार है जिसमें निर्दिष्ट लक्ष्य का मापदण्ड या निर्णायक है। सामाजिक मूल्य या सामाजिक मापदण्ड में व्यक्तियों द्वारा निर्मित किये जानेवाले निश्चित उद्धेश्य है।

सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति केलिए और मानव की भलाई केलिए मूल्यों का होना आवश्यक है। सामाजिक मूल्यों का निर्माण सामाजिक चेतना से संबंधित होती है। सामाजिक चेतना ही धर्म, विज्ञान, राजनीति आदि में संबंधित मूल्यों का निर्माण करती है। प्रत्येक समय का मूल्यबोध पूर्ववर्ती समय से कुछ भिन्न अवश्य होता है। यह भिन्नता विकास के नए रूपों को ग्रहण करने का परिणाम है। युगीन मानसिकता के अनुसार वर्तमान मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन अवमूल्यन तथा नए मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया ज़ारी रहती है।

1.2.1 आधुनिक भारतीय समाज

भारत के इतिहास में परिवर्तन की दिशाएँ दिखाई देती हैं। लेकिन अग्रेज़ों के आगमन तक का इतिहास इस बात की साक्षी है कि यहाँ पर जितने विदेशी आये थे वे सब यहाँ की सामन्तीय व्यवस्था से आगे बढ़कर पूँजीवादी व्यवस्था को अपनाये थे। उन्होंने पूरे भारत की आर्थिक व्यवस्था को बदल दिया था। औद्योगिकी एवं संचार साधनों में होनेवाली क्रान्ति ने देश के एकीकरण में उन्हें सहायता दी। अंग्रेज़ों के आगमन के समय प्रगतिशील सामाजिक चेतना की दृष्टि से भारत बहुत पीछे था। विभिन्न धार्मिक रूढ़ियाँ तथा रीति-रिवाज़ यहाँ के समाज को निगल रहे थें। समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता केलिए कोई स्थान नहीं था। उसकी वर्णव्यवस्था की बुराइयाँ अपनी पराकाष्टा तक पहूँच चुकी थी। बालविवाह, सती-प्रथा आदि अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थी। तब प्रचलित सभी रूढ़िगत मूल्यों को हेय बताकर उनका तिरस्कार किया और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति लागू की। तत्पश्चात मूल्य के प्रति सामाजिक मानसिकता बदलने लगी। एक नये शिक्षित वर्ग का उदय होकर अंग्रेज़ों के शोषण तंत्र के प्रति आवाज़ उठाकर समाज को सुधारने का प्रयत्न हुआ। ऐसे अनेक सुधारवादी आन्दोलनों के कारण जनता में नवीन जागरण उत्पन्न हुआ। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियॉसोफिकल सोसाइटी आदि ने समाज में सुधार लाने में अपना योगदान दिया।

1.2.1.1 बह्म समाज

भारतीय नवोत्थान के प्रमुख नेता श्री राजाराम मोहनराय ने सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की जिन्होंने उपनिषतों के आधार पर हिन्दु धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने सती-प्रथा का घोर विरोध किया। हिन्दु, बौध, ईसाई,

और इस्लाम जैसे धर्मों के मूल तत्वों का अध्ययन कर के अपने सिद्धान्तों को समाज में स्थापित करने की कोशिश की। एक समाज सुधारक बनाकर मूर्तिपूजा, छुआछूत, धार्मिक कट्टरता तथा सती-प्रथा के खिलाफ आन्दोलन चलाया। विधवा विवाह, अन्तर जातीय विवाह मानव समानता जैसे नवीन मूल्यों की स्थापना करने केलिए पुरजोर कोशिश की। समाज में व्याप्त अन्याय-कुरीतियों को दूर करके पूरे भारतीय समाज को उसके खिलाफ आवाज़ उठाने की प्रेरणा दिया।

1.2.1.2 प्रार्थना समाज

सन् 1867 में डॉ. आत्माराम ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। अंधविश्वासों एवं कुरीतियों की कटु-निन्दा करके समाज में व्याप्त धार्मिक अंधत्व का घोर विरोध किया। उन्होंने हाशियेकृत के सुधार करने केलिए महत्वपूर्ण कार्य किए। उन्होंने छुआछूत का विरोध करके पूरे समाज में समानता का संदेश फैलाया। उसके बाद में प्रमुख बुद्धिजीवी एवं समाज सुधारक रानडे ने इस समाज का नेतृत्व किया था।

1.2.1.3 आर्य समाज

सन् 1874 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की। उन्होंने वैदिक धर्म को ही सत्य और सार्वभौम माना। आर्य समाज के आचार संहिता भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशालता पर ज़ोर देने के साथ जाति-भेद, मनुष्य-मनुष्य और स्त्री पुरुष में हुई आसामानता दूर करने की कोशिश की। ऐसे देश में प्राचीन आदर्श की स्थापना और नवचेतना के निर्माण का कार्य किया। उनपर ब्रिटीश सरकार का विरोध ऐसे पडा जब उन्होंने हिन्दी भाषा को जनसामान्य तक पहूँचाने की और राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाने की भी कोशिश की है।

अधिकांशतः मध्यवर्ग पर उनका प्रभाव हुआ और उसका कार्य क्रान्तिकारी अधिक सिद्ध हो गया। इस समाज में अनेक सभाएँ बनाने के साथ इनको संगठित करने केलिए भी उनकी कोशिश महत्वपूर्ण थी। इसकेलिए आर्य प्रतिनिधि सभा का निर्माण किए।

1.2.1.4 रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामि विवेकानंद समाज सुधारक थे। रामकृष्ण परमहंस के मृत्यु के बाद स्वामि विवेकानंद ने सन् 1898 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। हिन्दू समाज में प्रचलित कुरीतियों और अन्धविश्वासों के विरोधी थे। वे गरीबों के प्रति बहुत सहानुभूति रखते थे। सन् 1893 में शिकागो के भाषण को सुनकर लोग चकित हो गए। देशभक्त होने के कारण देश के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया।

1.2.1.5 थियॉसफिकल सोसाइटी

थियॉसफिकल सोसाइटी की स्थापना 1847 में मादम व्लावरुस्को और आलकोट ने न्यूयार्क में किया। भारत में इसका प्रचार 1893 में एनिबसेंट ने किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता की आधुनिक तथा वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत किया। एनिबसेंट ने भारत को अपनी जन्मभूमि के रूप में माना इसलिए भारत पर उनकी सेवाएं श्रद्धेय बनी। भारत की प्राचीन संस्कृति को महत्व देते हुए आधुनिक मूल्यों के महत्व के साथ जोडा। भारत के बहुत से लोग उनसे प्रभावित हुए।

इसप्रकार इन महान लोगों ने उन सामंतवादी, रूढ़ीवादी मूल्यों का विरोध कर के उनके ख़िलाफ एक नई सामाजिक मानसिकता के महत्व को प्रस्तुत किया।

1.2.2 स्वातंत्र्योत्तर भारत और सामाजिक मानसिकता

भारत के स्वतंत्रता प्राप्ति, संविधान का निर्माण तथा राष्ट्रीयता की भावना आदि ने एक निश्चित आकार प्रदान किया। लोगों के मन में यह विचार आया था कि मैं अब स्वतंत्र हो गया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था ने व्यक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित किया। संविधान ने भारत को धर्म निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया। इन सारी परिवर्तनों की प्रेरक शक्तियों में आधुनिक विकसित विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने युगीन बंधनों को तोड़ने की कोशिश की। वैज्ञानिक जीवन दृष्टि के परिणाम स्वरूप सदियों की भावुकतापूर्ण दृष्टि के स्थान पर तर्क का महत्व हुआ। "बौद्धिकता का विस्तार हुआ। मानव को जीवन में समय का अभाव लगने लगा। वह कुछ करने केलिए व्याकुल रहने लगा। गति की इस आपाधापी में वह अपने ही चतुर्दिक केंद्रित हो गया।"[23]

औद्योगिकरण एवं शहरीकरण ने सांस्कृतिक गतिरोध उत्पन्न किया। मशीनीकरण के कारण क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया। पारंपरिक समाज व्यवस्था के बदले नये ढंग का समाज निर्मित हुआ। भारतीय समाज पाश्चात्य प्रभावों में रंगने लगा। आर्थिक असामनता, वर्ग संघर्ष, मध्यवर्गीय जीवन का शिथिलीकरण, वैयक्तिक तनाव, पुराने और नये आदर्शों में द्वन्द्व, संयुक्त परिवार का विघटन होने लगा। जो सपने लोगों ने देखा था वे सब व्यर्थ हुआ।

मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, अस्तित्ववाद जैसी विचारधाराओं ने संपूर्ण विश्व में क्रांति उपस्थित कर दी। भारतीय वैचारिक जगत् भी इन विचारधाराओं से बहुत प्रभावित हुआ। देश के साहित्यकार इससे प्रभावित होकर साहित्य रचने लगे।

1.2.3 सामाजिक मानसिकता : वर्तमान परिवेश

नब्बे के बाद दुनिया जिस तेज़ी से बदल रही उसी के साथ लोगों के रहन-सहन में, आचार-विचार, वेष-भूषा, सोचने के ढंग में परिवर्तन हो रहा है। समाज उत्तर आधुनिक स्थितियों में दाख़िल हो चुका है। तकनीकी क्रांति, और दृश्य माध्यम पूरे समाज को प्रभावित कर रहे हैं। जिस समाज में नैतिकता की प्रधानता रही थी आज वहाँ आज नैतिक पतन दिख्राई दे रहा है। नब्बे के बाद उदारीकरण की नीतियों ने देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों व यथार्थ में पर्याप्त परिवर्तन किया। आज हमारे समय का यथार्थ एकरैख्रिक न होकर जटिल व धूसर हो गया है। तकनीक के अत्यधिक विस्तार ने हमारे जीवन को बेतहाशा प्रभावित किया है। दृश्य माध्यमों का हमारे जीवन पर बढ़ता प्रभाव इस बात की तरफ़ स्पष्ट इशारा करता है कि हम वाकई दृश्य माध्यमों से घिरे हैं और हमारा जीवन, हमारी चेतना, सोचने का ढंग कहीं न कहीं इन माध्यमों से निर्धारित हो रहा है। उपभोक्तावदी संस्कृति ने यथार्थ की जगह छाया यथार्थ को हमारे जीवन में प्रतिष्ठित कर दिया है। सब कहीं अलगाव, हिंसा, सामूहिकता का लोभ, वैयक्तिकता, अनैतिकता आदि का प्रचार हो रहा है। पूरे मानव को बाज़ार ने अपने पंजों में जकडकर रख्रा है। उसके सोचने का ढंग भी किसी दूसरों से निर्धारित हो रहा है। धर्म, सत्ता, राजनीति आदि का गठजोड समाज पर बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। पूंजी की बढोत्तरी या अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्य केलिए नयी-नयी योजनाएँ बनाकर लोगों को धोख्रा दे रहे हैं। उपनिवेशवादी सोच और पूँजीवादी मानसिकता बाज़ार का प्रचार कर रहा है। उपभोक्तावाद को बढ़ावा दे रहे हैं। मानव सिर्फ एक वस्तु में तब्दील हो रहे हैं।

किसी लक्ष्य का चयन व निर्णय कर के नैतिक प्रतिमानों के तहत उसकी पूर्ति या प्राप्ति हेतु मार्ग निर्धारण करना ही मूल्य की परिकल्पना है। दूसरों के हित चिन्ता के भाव में ही मूल्यों का निष्पादन हुआ है। समय के साथ समाज में हो रहे परिवर्तन सामाजिक मानसिकता को प्रभावित करता है। समय के अनुरूप सामाजिक मानसिकता में हो रहे परिवर्तन नये मूल्यों का सृजन करने में और प्रचार-प्रसार करने में कारण बनता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. हुकुमचंद राजपाल- समकालीन कविता में मानवमूल्य, पृ.18
2. पुष्पपाल सिंह- समकालीन कहानी नया परिप्रेक्ष्य, पृ.59
3. डॉ.देवराज - संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ.159
4. धर्मवीर भारती- मानव मूल्य और साहित्य, भूमिका से उद्धृत
5. Radhakamal Mukerjee- The social structure of values, p.90
6. डॉ. रमेश कुंतल मेघ- सौदर्यमूल्य और मूल्यांकन, पृ.7
7. Bogardes- The development of social thought, पृ.104
8. ई. दुर्खीम- The Rules of Social Method, पृ. 142
9. रोबर्ट फन बेंक-पंर्सपेक्टीन्स इन सोशियल फिलोसफी, पृ. 234
10. डॉ. हुकुमचंद राजपाल- समकालीन कविता में मानव मूल्य, पृ. 38
11. डॉ. रमेशचंद्र लवानिया- हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, पृ.14
12. डॉ. राजबली पाण्डे- भारतीय नीति का विकास, पृ.80
13. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- चिन्तामणि, पृ.3174
14. डॉ. सुरेन्द्र वर्मा- भारतीय जीवनमूल्य, पृ.56
15. महाभारत, 123.4.5
16. डॉ.किरण कुमारी - धर्म और दर्शन, पृ.332
17. उद्धृत, गिरिजा कुमार माथुर के काव्य में जीवन मूल्य, रीता शर्मा, पृ.40

18. R.K. Mukherjee- The Social Structure of Values, p.365

19. डॉ. देवराज- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ. 177

20. धर्मवीर भारती- मानव मूल्य और साहित्य, पृ.152

21. शंभूनाथ सिंह- मानव और दृष्टा, पृ.82

22. To set up a critics is a set up a judge of values- IA – Principles of Literary Criticism, p.60

23. डॉ. हेमेन्द्रकुमार पानेरी- स्वांतत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, पृ.82

दूसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा

पिछले कुछ सालों के उपन्यासों पर निगाह डाली जाए तो उनमें इतिहास, अस्मिता और समकालीन मुद्दों का दबाव साफ नज़र आता है। सोवियत संघ के विघटन के बाद नई बनती एकध्रुवीय दुनिया का चित्रण, भारतीय राष्ट्र-राज्य द्वारा उदारीकरण की नीतियों को अपनाने के फलस्वरूप पैदा हुई सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव समकालीन हिन्दी उपन्यासों में देखा जा सकता है। मूल्य, परंपरा और इतिहास के ध्वंस की आवाज़ों के बावजूद स्त्री, दलित, आदिवासी, तृतीय लिंग जैसे नए अस्मिता विमर्शों का भी चित्रण है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास समकालीन परिस्थितियों की उपज है जिसमें स्थितियों, घटनाओं या संबंधों का मात्र चित्रण ही नहीं हुआ है, बल्कि इससे आगे बढ़कर यथार्थ के जटिल एवं गहरे स्तरों में बैठकर समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व केलिए लडने का आह्वान भी है। कश्मीर का आतंकवाद, लोकसंस्कृति एवं लोक कलाकारों का धूमिल होता चेहरा, नयी आर्थिक नीति, मानवीय संबंधों की सूक्ष्म पडताल, भयावह स्थितियों का वर्णन, समाज एवं परिवार में स्त्रियों की अवस्थिति, जातिवाद-सांप्रदायिकता विरोध, राजनीति की विद्रूपता, आदिवासी-दलित शोषण एवं यातना आदि को विभिन्न कोणों से व्यक्त करने का प्रयास समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने किया है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास मात्र विषय वस्तु के स्तर पर ही नहीं, बल्कि प्रस्तुतीकरण के लिहाज से भी काफ़ी आगे हैं। भाषा-शिल्प के स्तर पर विविधता और नयी-नयी प्रविधियाँ उपन्यासों में प्रयुक्त की जा रही है। संरचना की जटिलता, जादुई भाषा एवं चमकदार भाषा का प्रयोग, हिंग्लिश का बढ़ता प्रयोग, सोशियल मीडिया की भाषा (एस. एम.एस ब्लॉगवाली भाषा), व्यंग्यात्मक भाषा, लोकभाषा का

प्रयोग, पत्रकारिता की भाषा आदि समकालीन हिन्दी उपन्यास की भाषागत प्रवृत्तियाँ हैं।

2.1 विचारात्मक प्रवृत्तियाँ

2.1.1 भूमण्डलीकरण, नवउपनिवेशवाद और हिन्दी उपन्यास

पिछले दो दशकों से वैश्वीकरण शब्द अधिक चर्चा में है। भूमण्डलीकरण, नवसाम्राज्यवाद, बाज़ारीकरण, नव उदारतावाद ये सब वैश्वीकरण के ही पर्याय हैं। मैनेजर पाण्डेय कहते हैं- ''यह प्रक्रिया यूरोप में पूँजीवाद के जन्म के साथ ही शुरू हो गयी थी। लेकिन इस प्रकार की दो अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद की थी, जिसका सामना भारत ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के रूप में किया था। इस अवस्था में यूरोप के पूँजीवादी देशों ने दुनिया के विभिन्न देशों में जाकर अपने उपनिवेश कायम किये गए- अफ्रीका, एशिया, लातीनी, अमेरिका में। ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल-यूरोपीय देशों में जहाँ-जहाँ पूँजीवाद का विकास हुआ, उन देशों ने अपने साम्राज्यवाद का विस्तार किया। उन्होंने अन्य देशों को अपना उपनिवेश बनाया और वहाँ जाकर उनपर शासन किया। दूसरी अवस्था उपनिवेश समाप्त हो जाने के बाद की है, जब पूँजीवादी देशों केलिए यह संभव हो गया कि वे दूसरे देशों में जाकर अपने उपनिवेश कायम किए बिना ही अपना साम्राज्य का विस्तार कर सकें। इस दूसरी अवस्था का नाम ही भूमण्डलीकरण है।''[1]

भूमण्डलीकरण बाज़ार और पूँजी पर आधारित एक ऐसी साम्राज्यवादी सत्ता व संरचना का नाम है जो साम्राज्यवादी माँग की पूर्ती केलिए बनाया गया। यह विश्व पूँजीवाद, साम्राज्यवाद के अग्रिम विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया है, इसमें एकीकरण और विघटन दोनों परिघटनाएँ शामिल हैं। सच्चिदानन्द सिन्हा के शब्दों

में- ''भूमण्डलीकरण दरअसल पूँजीवाद की तात्कालिक एकछत्रता का उद्घोष है लेकिन भूमण्डलीकरण शब्द से जैसी एकता का भ्रम होता है, हकीकत वैसा है नहीं।''[2]

भूमण्डलीकरण सामान्यतः एक ऐसी अवधारणा होनी चाहिए थी कि पूरे विश्व में एक संस्कृति विकसित हो जो पूरे भूमण्डल को एक विश्वग्राम में परिवर्तित कर सारी दुनिया की मानव जाति के कल्याण केलिए हो। यह भारतीय पारंपरिक अवधारणा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुकूल होना चाहिए था जिसमें पूरे विश्व समुदाय को एक कुटुम्ब एक कुल मानने का आग्रह है। लेकिन भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण का वर्तमान रूप हमारी इस विशेष मानवतावादी धारणा से बिल्कुल अलग है जिसका मूलाधार है बाज़ार, बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद। विकास के नाम पर विध्वंस ही हो रहा है। नवसाम्राज्यवादी शक्तियाँ कई प्रलोभन देकर हमारे राष्ट्र को वैश्वीकरण के छलावे में फँसा रही हैं। भूमण्डलीकरण का एकमात्र लक्ष्य है दुनिया को मण्डी में तब्दील कर देना। लेकिन उसका संचालन सिर्फ नवसाम्राज्यवादी ताकतें करेंगे। वैश्वीकरण में पूँजी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। लेकिन आम आदमी के श्रम पर अपना लगाम लगाते हैं। व्यापार और पूँजी पर जिस तरह से प्रतिबन्ध हट रहे हैं वैसे ही वैश्वीकरण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, कोर्पोरेशनों और कोष प्रबन्धकों का वैश्विक बाज़ार हथियाने के खूब अवसर उपलब्ध कराया जा रहा है। सिर्फ पूँजीवादी देश ही मनचाहा लाभ पा रहे हैं। गरीब और कमज़ोर देश पूँजीवादी देशों की कठपुतली बनकर रह जाते हैं। आज भारत में शहर-गाँव के भेद के बिना हर जगह बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और बैंकों के बिचौलिए खडे हुए हैं, अपने आकर्षक वादों में आम जनता

को फंसाने केलिए। आज के युवा लोग ही इनके लुभावने जाल में ज़्यादा फंस जाते हैं।

आज इस भीषण अमानवीय एवं जनविरोधी रूख को पहचान कर समाज के बुद्धिजीवी लोग इसके खिलाफ आवाज़ उठा रहे हैं। साहित्यिक विधा भी इससे अछूता नहीं रहा। समकालीन हिन्दी उपन्यास ने भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक विसंगतियों पर खुलकर विरोध किया है। इस नवऔपनिवेशिक परिवेश में वर्तमान समस्याओं को आँकने का सशक्त प्रयास प्रियंवद का सन् 2000 में प्रकाशित उपन्यास 'परछाईं नाच' में मिलता है। उपन्यास का नायक अनहद बौना जैसी साम्राज्यवादी शक्तियों के मोहजाल में फंस जाता है। उपन्यास में बौना अपने भाषणबाजी में अनहद को लुभाते हुए कहता है- "हम सर्वश्रेष्ठ हैं, हम अनन्त शक्तियों के मालिक हैं। एक दिन ब्रह्माण्ड में सबकुछ हमारा होगा। हमारे तीन डगों में यह अंतरिक्ष, यह धरती, यह पाताल होगा। हम संख्या में बहुत नहीं हैं पर पृथ्वी पर फैले इन करोड लोगों को हम अपनी मुट्ठी में रखेंगे। ऐसा हम इसलिए करेंगे, क्योंकि हम जानते हैं कि इनको सिर्फ हम ही सुख कर पाएँगे। इनको भरपेट खाना.. कपडे... रहने का मकान... सेहत... शिक्षा सिर्फ हम ही दे सकते हैं।"[3] यहाँ बौना दुनिया भर के समस्त देशों व सम्पत्तियों को अपने काबू में रखनेवाले अमरीका जैसी साम्राज्यवादी शक्ति के प्रतीक के रूप में नज़र आता है। वह पुराण के वामन के समान सम्पूर्ण विश्व को अपने पैरों तले दबाकर रखने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार उपन्यास का नुकीले दाँतवाला भी वर्तमान शासकीय व्यवस्था का प्रतीक है जो अपने नुकीले दाँत वा नाखूनों से आम जनता के गले दबोचकर खून चूस रहा है।

वह पूँजीपतियों और उद्योगपतियों से गठबंधन स्थापित करके उनके हितों की रक्षा ही अपना धर्म समझता है।

अल्का सरावगी का 'एक ब्रेक के बाद' (2008) आज के बाज़ारवाद से उत्पन्न आर्थिक और सामाजिक विषमताओं का गहराई से चित्रण करता है। कोरर्पोरेट जगत के प्रलोभन की चकाचौंध में आम आदमी का शोषण, हताशा और पराजय किस प्रकार हो रहा है इसका चित्रण है। प्रलोभन से ग्रस्त युवा लोग किस प्रकार एक नौकरी से दूसरी फिर तीसरी नौकरी पर छलांग लगाता रहता है इसका वर्णन उपन्यास में मिलता है। विजय का 'नीड का तिमिर में' भी आज के युवा वर्ग को कोरर्पोरेट जगत ने किस प्रकार अशांत और दिग्भ्रमित करके रख्रा है इसका वर्णन है। वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में मध्यवर्ग के जीवन की त्रासदी, असंतोष और असुरक्षा की भावना को बहुत बेबाकी से प्रस्तुत करता है। आज के वैश्विक समाज में रिश्तों में जो बदलाव आ रहे हैं, आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ किस प्रकार मध्यवर्ग को उच्चवर्ग की प्राप्तियाँ हासिल करने की होड केलिए तैयार करती हैं और पूरा सामाज किस प्रकार इस दौड़ में शामिल होता है, 'रेहन पर रग्घू' इसका पूरा विवरण देता है। उपन्यास का मुख्य पात्र 'रग्घू' अर्थात रघुनाथ अपने बच्चों को लेकर भविष्य के सपने देखता है। लेकिन बच्चे बडे होकर अपने कैरियर की चिन्ता में मग्न होकर माँ-बाप को बोझ तुल्य मानने लगते हैं। आज के युवा वर्ग जिस तरह सारे रिश्तों को नकारते हुए, समस्त सामाजिक, सांस्कृतिक आचार-व्यवहार को ठुकराते हुए अर्थलोभ और पाश्चात्य रंग में डूबता चला जा रहा है इसका सजीव चित्रण उपन्यास में मिलता है।

राजू शर्मा का 'विसर्जन' भूमण्डलीकरण की आर्थिक नग्नता को उजागर करनेवाला उपन्यास है। पूँजी और स्टेट के गठजोड के साथ-साथ उसको लागू करने की वे नीतियाँ भी उद्घाटित होती हैं जो स्टेट और वैश्विक बाज़ारवादी तन्त्र बनाती है जिसे हम सतह पर नहीं देख्रते और समझ्रते जा सकते।

इस भूमण्डलीकरण के दौर में सबसे ज़्यादा परास्त हुआ हो तो वे हैं आदिवासी, दलित और स्त्री। दलित अस्मिताएँ, उनकी लोकतांत्रिक माँग, मध्यवर्गीय जीवन की विद्रूपता, उपभोक्तावादी अपसंस्कृति, विकास के नाम पर विनाश और विस्थापन इस तरह हिन्दी औपन्यासिकता भूमण्डलीकृत यथार्थ के विविध रूपों को अपने में समेटती है और उसका प्रतिरोध भी प्रस्तुत करती है। भूमण्डलीकरण और बाज़ार की पूरी संरचना, सत्ता केन्द्र और उसकी भयावहता एवं कुरूपता पूरी पेचीदगी के साथ उपन्यासों में प्रस्तुत हो रही हैं।

2.1.2 दलित उपन्यास

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश में जो वैचारिक विमर्श सामने आये, उनमें दलित विमर्श महत्वपूर्ण है। दलित समाज में घटित घटनाएँ उपन्यास की कथावस्तु बनकर समाज के सामने आने लगीं। समाज की विषमतावादी वर्णव्यवस्था का विरोध, सवर्णों द्वारा दलितों पर किये गये अन्याय, अत्याचार, शोषण और उत्पीडन की घटनाओं का ख्रुलासा दलित साहित्य के माध्यम से ही संपन्न हुआ है। हज़ारों वर्षों से एक समाज ने जो दुःख्र भोगा, जो सहा उसकी प्रतिक्रिया और अभिव्यक्ति दलित साहित्य का सारतत्व है। दलित साहित्य वंचितों की चेतना का स्वर है, संगठित होकर उसके साथ संघर्ष कर अपनी स्थिति में सुधार करने का स्वर है। घृणा, अन्याय

एवं अत्याचार की जो सवर्ण मानसिकता रही है, उसके खिलाफ आवाज़ उठाने का आह्वान है।

भारत रत्न डॉ.बाबा साहब अम्बेडकर (1891-1956) को दलित साहित्य की ऊर्जा माना जाता है। दलित आन्दोलन की शुरुआत उनसे मानी जाती है, लेकिन उनसे पहले ही महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले (1827-1890) ने दलितों की समस्याओं पर काफी विचार किया था। उन्होंने यह घोषित किया कि दलितों को शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार है। उन्होंने कई पाठशालाएँ खोलकर दलितों की शिक्षा केलिए सुविधाएँ बना दीं। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर भी ज़ोर दिया। उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले को शिक्षित करके उसे शिक्षक बना दिया। सावित्री बाई फुले ने ब्राह्मणवादी, पितृसत्तात्मक जातिव्यवस्था की कडी आलोचना की, जो महिलाओं और शूद्रों को गुलाम और अज्ञानी बनाए रखना चाहती थी। उन्होंने ब्राह्मण, पुरोहित और सामंतों के गठबंधन की चालबाज़ियों का विरोध करने केलिए दमितों को पहले शिक्षित होने का आह्वान किया।

अम्बेडकर ने ही अपमानित, तिरस्कृत समाज को स्वाभिमानपूर्वक जीने केलिए साहस दिलाया। उन्होंने हिन्दू कोडबिल के ज़रिए अवसर की समानता, अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण, निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा तथा अस्पृश्य का संपूर्ण निवारण पर बल दिया। उन्होंने स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व पर आधारित एक नयी सामाजिक व्यवस्था को अभिव्यक्त किया और स्त्री की शिक्षा और समानता पर बल दिया। ‘‘उनकी मान्यता थी कि एक स्त्री को शिक्षित करना एक परिवार को शिक्षित और संस्कारित करना है, विशेषतः दलित स्त्रियाँ जब तक शिक्षित नहीं होंगी तथा

पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर नहीं चलेंगी तब तक हमारा सामाजिक आन्दोलन सफल नहीं होगा।"[4]

'शिक्षित हो, संगठित हो व संघर्ष करो' (Educate, Unite and Agitate) यह पूरे दलित समाज केलिए मुक्ति का संदेश बन गया और इसी संदेश ने दलित साहित्य के सांस्कृतिक आन्दोलन केलिए उर्वर भूमि तैयार कर दी।

जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास 'छप्पर' (1994) दलित आन्दोलन की सफलता और उसके सकारात्मक प्रभाव को अत्यन्त गहनता के साथ प्रस्तुत करता है। उपन्यास में अवहेलना, अपमान और शोषण से पीडित दलित समाज को शिक्षा के माध्यम से परिधि से केंद्र में लाने का प्रयास है। सन् 1986 में प्रकाशित उनका पहला उपन्यास 'करुणा' भी दलित चेतना से भरपूर है। 'छप्पर' का नायक चंदन की तरह करुणा का नायक रमेश भी सामाजिक प्रगति केलिए आन्दोलन करता है। प्रेम कपाडिया का उपन्यास 'मिट्टी का सौगंध' (1995) में एक सवर्ण युवक विजेंद्र सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय केलिए आन्दोलन करता है। इतना ही नहीं आन्दोलन के माध्यम से दलितों में नेतृत्व की चेतना जगाने का कार्य भी किया है। तेजिन्दर के 'उस शहर तक' (1997) उपन्यास की मुख्य कथा एक उच्च शिक्षित दलित युवक पीलादास पर आधारित है। मध्यप्रदेश लोकसेवा आयोग द्वारा पंजीयक पद केलिए चुने गए पीलादास (गिरीश कुमार) को एक साल की ट्रेनिंग के समय, जातीय भेदभाव के कारण किन अनुभवों से गुज़रना पडा, इसका चित्रण है। सत्यप्रकाश का उपन्यास 'जसतस भई सवेर' (1998) में अंध विश्वास, शोषण, छुआछूत, अन्तर्जातीय विवाह और अशिक्षा की चर्चा की गयी है। उपन्यास के

माध्यम से लेखक ने तमाम अवैज्ञानिक शक्तियों के खिलाफ लडने व अंधविश्वासों से मुक्त होकर एक नये सवेरे का इंतज़ार करने केलिए जागृत किया है।

मोहनदास नैमिशराय के 'मुक्तिपर्व' (2002) में दलितों की सामाजिक और मानवीय अधिकारों की बात कही गयी है। स्वतंत्रता आन्दोलन के पश्चात् दलित समाज में आ रहे बदलाव पर लेखक ने बडी सूक्ष्मता से प्रकाश डाला है। उपन्यास में दलित मुक्ति केलिए परंपरागत रूढियों का उल्लंखन ही नहीं, सवर्णों की मानसिकता बदलने पर भी बल दिया है। लेखक ने दलित स्त्री की मुक्ति पर भी ज़ोर दिया है। उन्होंने दलित स्त्री के आन्दोलन के विषय में लिखा हैं- "दलित समाज जहाँ एक ओर अपने अंदर एक मध्यवर्ग के उदय से जुडी समस्याओं से जूझ रहा है, वहीं उसे दलित आन्दोलन के भीतर एक और आन्दोलन की आहटें सुननी पड रही है। यह है दलित महिला का आन्दोलन जो समग्र महिला समुदाय से मुक्ति आन्दोलन का हिस्सा होने के साथ-साथ दलित समाज में पितृसत्ता का प्रश्न उठाता है। दलित महिलाओं की त्रासदी यह है कि उन्हें एक गाल पर ब्राह्मणवाद का तो दूसरी गाल पर पितृसत्ता का थप्पड खाना पडता है।"[5] लेखक का दूसरा उपन्यास 'आज बाज़ार बन्द है' (2004) वेश्याओं के जीवन पर केन्द्रित है। लेखक ने स्त्री उत्पीडन विशेषकर दलित स्त्री के उत्पीडन के उस काले इतिहास को प्रस्तुत किया है जिसमें दलित देवदासियों से लेकर वेश्याओं के जीवन की दुःख भरी कहानी कही गयी है।

कावेरी का उपन्यास 'मिस रमिया' (2007) में शिक्षा की मशाल लेकर निकली रमिया किस प्रकार समाज को प्रेरणा देती है, इसका वर्णन है। 2008 में प्रकाशित उमराव सिंह यादव का उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' का नायक दरियापुर

गाँव में है जिसमें शोषित, पीडित, अपमानित दलित जीवन की कथा और शोषण के मुद्दे हैं। यह कुआँ केलिए संघर्ष करती यादवों की कहानी है। रूपनारायण सोनकर का उपन्यास 'डंक' (2009) में छुआछूत, जातिभेद, अपमान, अत्याचार, गरीबी और अभाव से पीडित दलितों का वर्णन है। लेखक ने उपन्यास में अंतर्जातीय विवाह का प्रोत्साहन और पारिस्थितिक सजगता को भी व्यक्त किया है। 2009 में ही प्रकाशित अजय नावरिया का उपन्यास 'उधर के लोग' में जातियों के भीतर के भेदभाव और अन्याय दिखाया गया है। रूपनारायण सोनकर के 'सुअरदान' (2010) में लेखक ने अंध धार्मिक मिथकों की वास्तविकता समाज के सामने रखी है जो ब्राह्मणवादी परंपरा पर हमला करता है। उपन्यास की सबसे बडी विशेषता यह है कि लेखक ने गोदान करने की ब्राह्मणवादी परंपरा का विखण्डन करके सुअरदान की नयी परंपरा विकसित की है। सन् 2013 में प्रकाशित सुशीला टाकभौरे का उपन्यास 'नीला आकाश' में नीलिमा और आकाश मिलकर दलितों की ज़िन्दगी में सुधार लाने और शिक्षा प्राप्त करके अन्याय से लडने की प्रेरणा देते हैं। सन् 2015 में प्रकाशित उनके दूसरे उपन्यास 'तुम्हें बदलना ही होगा' में दलितों, स्त्रियों और दलित-स्त्रियों के संघर्ष की कहानी कही गयी है। शिक्षण संस्थाओं में दलितों के साथ होनेवाले भेदभाव को उजागर किया है। उपन्यास में धीरज कुमार और महिमा भारती नाम के दो चरित्रों के माध्यम से दलितों और स्त्रियों के शोषण और उनके प्रतिरोध को दर्शाया गया है।

दलित लेखक दलित चेतना को समाज के समक्ष यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। दलितों के ऊपर आज भी अत्याचार हो रहे हैं जो भारतीय समाज की शर्मनाक

वास्तविकता है। इस प्रकार दलित लेखक अपनी शोषित-हाशियेकृत तबकों की समस्याओं को रेखांकित कर उन्हें संघर्ष केलिए इकट्ठा करने का आह्वान दे रहे हैं।

2.1.3 स्त्री विमर्श और हिन्दी उपन्यास

अस्स्योत्तर साहित्य में नवीनता लेकर आनेवाले अनेक मुद्दों में एक है स्त्री विमर्श। सदियों से सहते आये शोषण और दमन के प्रति स्त्री चेतना ने ही स्त्री विमर्श को जन्म दिया। स्त्री विमर्श में स्त्री श्रम की महत्ता, उसके अधिकारों का संरक्षण, उसका आर्थिक स्वावलंबन, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा व राजनीतिक वर्चस्व, दलित महिलाओं के उत्थान की भावना, रूढियों का उन्मूलन, स्त्री शिक्षा पर बल तथा सामाजिक चेतना जैसे विषयों को प्रमुखता देता है।

आज स्त्री में अपने प्रति होनेवाले अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की ताकत है। आज की स्त्री के बारे में प्रभा खेतान ने कहा था- "आज स्त्री ने सदियों की खामोशी तोडी है। उसकी नियति में बदलाव है। उसके व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य, दर्शन, उसका मन-मिजाज सभी तो बदल रहा है।"[6]

हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श कई धाराओं में विकसित हुआ। उसका मूल कारण लेखिकाओं का अपना अनुभव और अपनी अलग-अलग सामाजिक स्थिति है। हिन्दी कथा-लेखन में स्त्री स्वातंत्र्य का पहला प्रस्थान बिन्दु कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजानी' के साथ शुरु होता है। उपन्यास की नायिका मित्रो युगों से स्त्री केलिए निश्चित नैतिकता के मानदण्डों को, चुनौती देती है। मृदुला गर्ग का 'चित्तकोबरा' में भी स्त्री केलिए बनायी गयी वर्जना की सारी श्रृंखलाएँ टूट जाती हैं। चित्रा मुद्गल 'के आवाँ' में दो महत्वपूर्ण बातें उभरकर आती हैं, एक मुम्बई के मज़दूर,

जिनको सत्ताधारी लोग अपनी कठपुतली बनाकर रखते हैं और दूसरा पितृसत्तात्मक समाज में उत्पीडित होनेवाली स्त्री। उपन्यास में लेखिका एक मज़दूर की बेटी के मोहभंग, पलायन और वापसी के माध्यम से ट्रेड यूनियन की विसंगतियाँ, उपभोक्तावादी समाज की सच्चाइयों को उघाडती हैं और इन सबमें एक स्त्री की हैसियत को भी रेखांकित करती हैं। इससे आगे जाकर मधु कांकरिया के 'सेज पर संस्कृत' भूमण्डलीय दौर की प्रवृत्तियों की पहचान कराते हुए धर्म की आड में विकसित हो रही अपसंस्कृति और धार्मिक आडम्बरों के जाल में फँसी स्त्री मन की व्यथा को उजागर करता है।

लेखिकाएँ अपने उपन्यासों में सिर्फ स्त्री जीवन की समस्याओं को ही केन्द्र में नहीं लाती हैं, बल्कि पितृसत्तात्मक समाज को चुनौती देते हुए लोकतंत्र में हिस्सेदारी बढायी है और लोकतंत्र को मज़बूत बनाने की कोशिश करती रहती हैं। मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' में सारंग स्त्रियों का संगठन करती है। ग्राम प्रधान की चुनाव लडकर विरोधियों का चक्रव्यूह तोड़कर विजय प्राप्त करके राजनीति में स्त्री की शक्ति का छाप छोडती है। अनामिका का उपन्यास 'दस दवारे का पिंजरा' के मुख्य पात्र रमाबाई और ढोलाबाई हैं। रमाबाई का जीवन वृत्तान्त उस दौर की कथा है जब स्त्री शिक्षा को अपराध माना जाता था। विवेच्य उपन्यास में रमाबाई का केन्द्रीय चरित्र स्त्री चेतना के विकास का ज्वलन्त प्रमाण है। वे अपने अमरीकी शिष्यों की सहायता से पुणे में 'शारदा सदन' खुलवाकर सब बेसहारा औरतों का हुनर प्रशिक्षण केन्द्र और होस्टल निर्मित करती है। अपने पूरे परिवार को खो देने के बाद एक अकेली स्त्री अपने जीवन को किस ऊँचाई तक ले जा सकती है इसका प्रमाण है उनकी ज़िन्दगी।

रजनी गुप्त के उपन्यास 'एक न एक दिन' में वे विवाह-संस्था के परम्परागत रूप की यंत्रणाओं को उजागर करती हुई, सारी स्थितियों का प्रतिरोध नायिका कृति के माध्यम से प्रस्तुत कराती हैं। पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था किस प्रकार जिस अधिकार से स्त्री को वस्तु मात्र समझती है, उसके प्रति आक्रोश और विद्रोह प्रस्तुत करती हैं। उपन्यास में कृति जैसी उच्च अफ्सर को भी घर में दाम्पत्य का वही पुराना नरक भोगना पडती है। स्त्री-पुरुष मित्रता के सन्दर्भ में यह प्रश्न भी कृति उठाती है कि स्त्री-पुरुष मित्रता के सम्बन्ध में देह बीच में क्यों आ जाती है। पुरुष लोग स्त्री से पनपती दोस्ती को सिर्फ एक ही नज़रिये से क्यों देखते हैं। पुरुषवादी सोच क्यों सिर्फ एक ही दिशा में चली जाती है। इस प्रकार यह उपन्यास स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को एक सन्तुलित दृष्टि से विवेचन करता है।

ममता कालिया का उपन्यास 'दुक्खम सुक्खम' अबसे लगभग 50-60 वर्ष के सामाजिक परिवेश में स्त्री दुर्गति का चित्रण करता है। उपन्यास में लेखिका स्त्री सशक्तीकरण केलिए एक पूरी मानसिकता विकसित करने की बात करती हैं। कन्या-भ्रूण हत्या जैसे गंभीर विषय को उठाती हैं। असमानता भरे समाज में औरत की तमाम उम्र कभी दुःख और कभी सुख के साथ समझौता बनकर ही रह जाती है।

महिला लेखिकाओं के अलावा पुरुष लेखक भी स्त्री को लेकर लगाये गये बन्धनों के प्रति एक आक्रोशात्मक प्रतिशोध दर्ज करते हैं। इस दृष्टि से भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'हलाला' बहुत महत्वपूर्ण है। 'हलाला' यानी तलाकशुदा औरत किसी दूसरे मर्द से निकाह करे और फिर उससे तलाक, या उसकी मौत के बाद ही वह पहले पति केलिए हलाल होती है, इसी का नाम हलाला है। दरअसल हलाला धर्म की आड में बनाया गया एक ऐसा कानून है, जिसने स्त्री को भोग्या

बनाने का काम किया है। सच तो यह है कि हलाला मर्द को तथाकथित सज़ा देने के नाम पर गढ़ा गया ऐसा पुरुषवादी षड्यंत्र है जिसका स्वामियाजा औरत को ही भुगतना पडता है। सज़ा भी ऐसी जिसे आदिम बर्बरता के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता।

2.1.4 आदिवासी उपन्यास

बहुभाषिक एवं बहु सांस्कृतिक भारत में अनेक जाति, धर्म, वर्ण तथा संप्रदाय के लोग रहते हैं, जिसमें आदिवासियों का विशिष्ट स्थान है। भारत की जनसंख्या में आदिवासी लगभग आठ प्रतिशत है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की अनुसूचित जनजातियों (Scheduled Tribes) की कुल जनसंख्या 8.6 करोड है। आदिवासी से अभिप्राय देश के मूल एवं प्राचीनतम निवासियों से है। आज हम जिस समाज में रहते हैं उस समाज में आज भी कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं, जो मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित है। विकास के नये मॉडेल उनके जल, जंगल, ज़मीन को उनसे हडप लेते हैं। उनकी प्राकृतिक और पारंपरिक परिवेश से उन्हें बेदख़ल किया जा रहा है। यह एक आशादायी स्थिति है कि समाज के बुद्धिजीवियों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो रहा है और भारतीय स्तर पर आदिवासी साहित्य की चर्चा शुरु हो गयी है। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में कथा साहित्य में लेखन का औसत कुछ ज़्यादा है और उसमें भी उपन्यास सशक्त दिखाई देती है।

हिन्दी उपन्यासकार स्पष्ट करते हैं कि आदिवासी यहाँ के मूल निवासी होकर भी उन्हें उपेक्षितों का जीवन जीना पड रहा है। समाज व्यवस्था उन्हें हाशिये पर रखकर मूलभूत सुविधाओं को भी उन तक पहूँचने नहीं दे रही है। विकास के नाम पर जल-जंगल-ज़मीन से निर्वासित किया जा रहा है। समकालीन हिन्दी उपन्यास

आदिवासियों की इन समस्याओं को जनता के सामने रखता है और कैसे उन समस्याओं से निपटा जा सकता है का सुझाव भी देते हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ही आदिवासियों को हिन्दी उपन्यासों में मुख्य रूप से स्थान मिला है। स्वतंत्रतापूर्व साहित्य में भी उनकी ज़िन्दगी की त्रासद स्थिति का वर्णन हुआ है। जगन्नाथ प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बसंत मालती' (1899), वृजनन्दन सहाय का 'अरण्य बाला' (1904), मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल', रामचीज सिंह का 'वनविहंगिनी' (1909) आदि उल्लेखनीय हैं। स्वातंत्र्योत्तर युग में आदिवासियों के जीवन को आधार बनाकर देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'रथ के पहिए' (1952) की रचना की। योगेन्द्रनाथ सिंह ने सन् 1956 में बिहार के 'हो' नामक आदिवासी समाज पर 'वनलक्ष्मी' नामक उपन्यास लिखा। उसके बाद 1957 में राँगेय राघव ने 'कब तक पुकारूँ' नामक महाकाव्यात्मक उपन्यास लिखा जिसमें राजस्थान के करनट आदिवासियों के जीवन का विस्तार से चित्रण हुआ है। इसके अलावा राजेन्द्र अवस्थी के 'सूरज किरण की छाँव', 'जंगल के फूल' (1969), राकेश वत्स का 'जंगल के आस-पास' (1985), शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' (1986), संजीव का 'धार' (1990), मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी (1991), संजीव का 'पाँव तले की दूब' (1995), श्री प्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते हैं (1997), मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी' (2000), संजीव का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' (2000), 'सावधान नीचे आग है' (2000) आदि उल्लेखनीय हैं। बीसवीं सदी के इन उपन्यासों में सामंतवादी, अर्ध-सामंतवादी, पूँजीवादी व्यवस्था में फँसे आदिवासियों की त्रासदी का खुला वर्णन है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में इस परंपरा को आगे बढानेवाले और आदिवासी शोषण के विरुद्ध आवाज़ बुलंद करनेवाले कई उपन्यास हैं जिनमें प्रतिभा राय का 'आदिभूमि' (2002), तेजिन्दर का 'काला पादरी' (2002), राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा' (2003), भगवानदास मोरवाल का 'रेत' (2008), हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' (2008), रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009), श्रीमती अजित गुप्ता का 'अरण्य में सूरज' (2009), महुआ माजी का 'मरंग गोडा नीलाकंठ हुआ' आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रतिभा राय का 'आदिभूमि' उडीसा के 'बोंडा' जनजाति पर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में बोंडा के जीवन-व्यवहार, प्रतिरोध, लोकरूढि, लोक विश्वास, स्त्री-पुरुष संबंध, स्त्री शोषण आदि का सशक्त रूप में चित्रण है। इसके अतिरिक्त सरकारी योजनाओं की धोखा-धडी, झूठ-फरेब, भ्रष्टाचार, स्त्रियों का यौन शोषण आदि को अभिव्यक्त किया है। तेजिन्दर का 'काला पादरी' मध्यप्रदेश की 'उराँव' जनजाति की समस्याओं को व्यक्त करनेवाला उपन्यास है जिसमें भूख, अभाव, गरीबी, शोषण आदि उनके जीवन की तमाम पीड़ा का मार्मिक अंकन है। उपेक्षा और उत्पीडन से निपटाने केलिए ये आदिवासियाँ धर्म परिवर्तन का सहारा लेते हैं।

'पठार पर कोहरा' झारखंड के 'मुंडा' आदिवासियों की करुण कथा है। राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास में आज़ाद भारत में आदिवासियों की ज़िन्दगी की कोहरा न हटने की बात की है। सरकारी योजनाएँ किस प्रकार, सिर्फ कागज़ पर ही सीमित रहती हैं, आदिवासियों तक नहीं पहूँच रहा है इनका विस्तार से वर्णन है।

भगवानदास मोरवाल का 'रेत' उपन्यास हरियाना की कंजर जनजाति पर केंद्रित है। उपन्यास में कंजरों के पुलिसों, अफसरों, प्रशासकों द्वारा किये जा रहे शोषण को व्यक्त किया है। हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' सन् 1913 में राजस्थान के मानगढ में घटित एक घटना का वर्णन है जिसे इतिहासकारों ने अनदेखा किया था। उपन्यास के माध्यम से उन्होंने 'भीलो'- 'मीनों' के ऐतिहासिक योगदान को उजागर करने की कोशिश की है। रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबेल गाँव के देवता' झारखंड के 'असुर' जानजातियों के शोषण और उनके जीवन संघर्ष का जीवन्त दस्तावेज़ है। उपन्यास में वैश्वीकरण, औद्योगीकरण के कारण आदिवासियों पर हो रहे अन्याय और अत्याचार का विवरण है। श्रीमति अजित गुप्ता का 'अरण्य में सूरज' राजस्थान की 'भील' जनजाति के जीवन की वास्तविकता को स्पष्ट करता है। भीलों की ज़िन्दगी के रूढियों, मिथकों, अंधविश्वासों से मुक्ति पाने केलिए उपन्यासकार ने शिक्षा के महत्व पर बल दिया है। महुआ माजी का 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' झारखंड के 'हो' आदिवासी पर लिखा गया उपन्यास है जिसमें युरेनियम की खदानों के आसपास रहनेवाले आदिवासियों का जीवन, उनके संघर्ष और, उनकी मान्यताओं का चित्रण है।

जहाँ तक आदिवासी स्त्री का सवाल है, पहले उसकी स्थिति अन्य समाज की स्त्री की सामाजिक स्थिति से बेहतर थी। आदिवासी स्त्रियाँ घर-बाहर पुरुषों के साथ-साथ कंधों से कंधा मिलाकर काम करती थीं और अपने श्रम, मेहनत से परिवार का पालन-पोषण करती थीं। पहले वहाँ मातृसत्ता की प्रधानता थी। लेकिन जब अंग्रेज़ों ने राजस्व की नीति बनाकर ज़मीन के पट्टे ज़मीनदारों के नाम लिखे तभी से स्त्रियों को सपत्ति के अधिकार से वंचित किया जाने लगा। तभी से आदिवासी समाज में

पुरुष वर्चस्ववादी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ और स्त्री का शोषण शुरू हुआ। रमणिका गुप्ता के शब्दों में- ''जब गैर-आदिवासी समाज आदिवासी क्षेत्र में ज़मीनों के पट्टे लिखकर और सूदखोर बनकर प्रवेश करने लगा तब ज़मीनों और जंगल गैर-आदिवासियों के पास हस्तान्तरित होने शुरू हो गये, विशेषतया झारखंड, छत्तीसगढ़ क्षेत्रों में। तब दूसरे समाज की विकृतियाँ भी इस समाज में प्रवेश करने लगीं।''[7]

फिर स्त्री को उपभोग की वस्तु मानने की मानसिकता फैली। साहूकार से अपना कर्ज चुकाने केलिए घर की स्त्री की देह को दंड के रूप में देना पडता था। राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं हैं' में ऐसी स्त्री की व्यथा कथा है। संजीव का उपन्यास 'धार' की मैना एक सशक्त स्त्री पात्र है जो आर्थिक, सामाजिक शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाती है। 'रेत' उपन्यास की कस्तूरी, 'जंगल जहाँ शुरू होता है' और 'जो इतिहास में नहीं हैं' की स्त्रियाँ ठेकेदार, महाजन, पुलिस, वन रक्षकों द्वारा पीडिता है और दैहिक एवं आर्थिक शोषण झेलने को विवश है।

इस प्रकार आदिवासी और गैर-आदिवासी रचनाकारों में आदिवासी समाज की प्रस्तुति कर उनकी सांस्कृतिक पहचान और उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खडा करते हैं।

2.1.5 वृद्ध समस्या

वृद्ध हमारे मार्गदर्शक एवं प्रेरणा स्रोत होते हैं। उनके पास अनुभवों का खजाना है। उसका लाभ लेकर हम जीवन में सही मार्ग पर चलकर सफलता प्राप्त करते हैं। लेकिन आज के बाज़ारवादी या उपयोगितावादी युग में परिवार में उनकी

अवमूल्यित स्थिति बहुत दर्दनाक होती है। जिन बुजुर्गों ने हमें जीवन की सीख्र दीं, उन्हें हम आज हाशिये पर धकेल दिये जा रहे हैं। वृद्धाश्रम हमारी परंपरागत अवधारणा में कहीं नहीं थे किन्तु आज की विषम परिस्थितियों में इसकी आवश्यकता प्रचार एवं ख़ूब हो रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने हर जगह अपने पैर पसारे हैं। पारिवारिक संबंध भी उससे अछूते नहीं रहे। अब दादा-दादी, नाना-नानी के साथ भी आज की पीढी ज़रूरत भर के संबंध ही रख्रते हैं।

आज के साहित्य पर दृष्टिपात करने पर वृद्धों की स्थिति का पूरा आकलन मिलते हैं। हिन्दी के कई उपन्यासों में वृद्ध जीवन और आज की पीढ़ी के बदलते संबंधों का चित्रण किया गया है। निर्मल वर्मा का 'अन्तिम अरण्य' (2000), चित्रा मुदगल का 'गिलिगडु' (2002), काशीनाथ सिंह का 'रेहन पर रग्घू' (2008), रवीन्द्र वर्मा का 'आख्रिरी मंज़िल' (2010), हृदयेश का 'चार दरवेश' (2011), रमेशचंद्र शाह के 'सफेद पर्दे पर' (2011), तथा 'कथा सनातन' (2012) आदि उपन्यासों में वृद्धावस्था का चित्रण है।

'अन्तिम अरण्य' में लेख्रक ने अपने दार्शनिक अन्दाज़ में वृद्धावस्था की उदासी और एकाकीपन को अपनी विशिष्ट शैली में अभिव्यक्त किया है। चित्रा मुद्गल ने 'गिलिगडु' में बाबू जसवंत सिंह और कर्नल स्वामी दो कथापात्रों के माध्यम से वृद्ध जीवन के अकेलेपन, पारिवारिक संत्रास, पीढीगत संघर्ष आदि का सशक्त चित्रण किया है। काशीनाथ सिंह के 'रेहन पर रग्घू' के रघुनाथ मास्टर बदले हुए समय, परिवेश और मूल्यों को अपनी दृष्टि से देख्रते हुए अपने समय को विश्लेषित करनेवाला आदमी है। ''वस्तुतः प्रस्तुत उपन्यास वृद्धावस्था की दुरवस्था को

केन्द्र में नहीं रखता है, उसका फोकस बदले हुए समय पर है जिसमें रघुनाथ मास्टर को सारा परिवेश ही पूरी तरह परिवर्तित नज़र आता है।"[8]

रवीन्द्र वर्मा के 'आखिरी मंज़िल' में वृद्धावस्था की असहाय स्थिति का वर्णन नहीं है बल्कि बदले हुए साहित्य समीकरणों और परिवर्तित जीवन मूल्यों की बात कही गयी है। हृदयेश का उपन्यास 'चार दरवेश' चार वृद्धों की कहानी है जिसमें पीढीगत अन्तराल के कारण मूल्य स्तर पर आये परिवर्तन को सूक्ष्म रूप में चित्रित किया गया है। रमेशचंद्र शाह के उपन्यास 'सफेद पर्दे पर' और 'कथा सनातन' में वृद्धावस्था के एकाकीपन और बेचारगी को चित्रित किया गया है।

इस प्रकार कई उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से वृद्धावस्था और तज्जन्य समस्याओं को अपनी-अपनी दृष्टि से शब्दबद्ध किया है।

2.1.6 पारिस्थितिक सजगता

मनुष्य प्रकृति का हिस्सा है, उसके जन्म और अस्तित्व का प्रकृति से अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य ने अपने विकास के दौरान प्रकृति को अपने अनुरूप ढालने का प्रयास किया है। बढ़ते औद्योगीकरण, नगरों- महानगरों का बढता विस्तार, सौंदर्य के नाम पर योजनाएँ आदि पर्यावरण के अनेक संकट उपस्थित कर रहे हैं। आज प्रकृति को बहुत बडे पैमाने पर रूपान्तरण करने की शक्ति मानव के पास है। लेकिन वह इस बात को बिल्कुल नज़र अन्दाज़ कर देती है कि पर्यावरण के दोहन से समूची पृथ्वी का अस्तित्व ही खतरे में पड सकता है। विकास की इस पूरी सोच में मनुष्य और संसाधनों का अंधा दोहन एक विशेष वर्ग के मुनाफे केलिए किये जा रहे हैं। विश्व की पूँजीवादी व्यवस्था अपने लाभ केलिए विकास के नये-नये नमूने प्रस्तुत कर

रहे हैं जो प्रकृति और मनुष्य के दोहन और शोषण पर टिका है। हिन्दी उपन्यास ने जहाँ देश और समाज की अनेक समस्याओं पर दृष्टि डाली है, वहीं पर्यावरण संकट को भी कुछ उपन्यासकारों ने अपना उपन्यास का विषय बनाया है।

प्रकृति और उसके वास्तविक हकदारों को सुरक्षित रखने पर ज़ोर देनेवाला लेखक संजीव का 'धार' उपन्यास बहुत महत्वपूर्ण है। उपन्यास में खनिज पदार्थों का अवैध उत्खनन हमारे पर्यावरण को किस प्रकार भारी नुक्सान पहूँचाता है और वहाँ रहनेवाले लोगों का जीना कितना दूभर बना देता है इसका दर्दनाक चित्रण है। उपन्यास के केन्द्र में संथाल परगना का बांसगडा अंचल और संथाल आदिवासी है। 'धार' पारिस्थितिक स्त्रीवाद की दृष्टि से भी उल्लेखनीय उपन्यास है। पारिस्थितिक स्त्रीवाद पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री और प्रकृति पर किये जानेवाले अन्यायों के प्रति विद्रोह ज़ाहिर करता है और प्रकृति एवं समाज को शोषण मुक्त करने में स्त्री को सक्षम मानता है। उपन्यास में बाँसगडा की धरती पर जब तेजाब की फैक्टरी खुलती है, तब मैना इससे उत्पन्न पर्यावरण संकट से आदिवासियों को अवगत कराती है। फैक्टरी के खिलाफ गाँववालों को एकत्रित कर आँदोलन चलाने की ज़िम्मेदारी भी उठाती है।

कमलेश्वर का 'अनबीना व्यतीत' अत्यन्त मासूम पक्षियों के संहार को ही अपनी जीविका का साधन बनानेवाले व्यक्तियों और परिस्थितियों के कटु यथार्थ को उद्घाटित करनेवाला उपन्यास है। पक्षियों की दारुण मृत्यु परंपरा से मुक्ति का आख्यान है 'अनबीना व्यतीत'।

राजू शर्मा के 'हलफनामे' (2006) उपन्यास में परिस्थिति का संकट भी मुख्य विषय बनकर उभरा है। उपन्यास के प्रमुख पात्र स्वामीराम गाँव के प्रमुख लाला से

पैसा उधार लेकर बोरवैल खुदवाता है। पैसे की लालच में ठेकेदार और लाला अधिकाधिक बोरवैल खुदवाता है। वह भी 'ब्लैक एरिया' घोषित जगहों पर। तीन बार अपनी धरती माँ को चोट पहूँचाने पर स्वामीराम पछताता है। अंत में स्वामीराम को यह समझ में आता है कि पानी का रास्ता रोककर वहाँ बडे-बडे मकान बनवाया है। सूखा और बाढ दोनों का कारण यही है। किसान स्वामीराम धरती के निम्न सतह पर स्थित जल के रास्ते का एक नक्शा बनाता है पर उसे लोगों तक पहूँचाने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाती है। नासिरा शर्मा का उपन्यास 'कुइयांजान' में भी पानी की समस्या को उठाया गया है। पानी का अभाव, रासायनिक खाद के प्रयोग से पानी पीनेलायक नहीं बनता, जलजन्य रोग का फैलाव आदि गम्भीर समस्याओं पर उपन्यास बल देता है। उपन्यासकार उस दर्दनाक स्थिति को भी दर्शाती है कि कुछ गाँवों में दलितों को 'ठाकुर का कुएँ' से आज भी पैसे पर पानी बेचा जाता है। वे उन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर भी पाठकों का ध्यान खींचती हैं जो धरती के जल पर अपना अधिकार जमा रही हैं। इसी प्रकार पूरा उपन्यास जल संकट और वनों के काटने, बाँध बनाने के हानि-लाभ आदि समस्याओं पर विचार करता है। विद्या सागर नौटियाल का उपन्यास 'स्वर्ग दद्दा! पाणी पाणी' में पानी की एक बूँद केलिए तरसते जनों का वास्तविक चित्रण है। कुसुम कुमार का 'मीठी नीम' वन और पेड-पौधों की रक्षा तथा वृक्षारोपण के आन्दोलन पर ही केन्द्रित है। नरेन्द्र नागदेव का सशक्त उपन्यास 'एक स्विच था भोपाल में' (2012) में लेखक, आम लोगों के जीने के अधिकारों का हनन करके उनकी ज़िन्दगी को केवल अपने लाभ का साधन मात्र बनाते उच्च अधिकारियों और पूँजीपति लोगों की ओर पाठक का ध्यान खींचते हैं।

2 दिसंबर 1984 की रात को घटी भोपाल त्रासदी पर पूरा शोध करके ही लेखक ने उपन्यास लिखा है।

2.1.7 धर्म, विभाजन और साम्प्रदायिकता

भारत में अंग्रेज़ों की 'फूट डालो और राज करो' नीति से हिन्दू-मुस्लिम के बीच वैमनस्य बढता रहा। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान फिर हिन्दू-मुस्लिम के बीच मज़बूत भाईचारा दिखाई दिया था। लेकिन अंग्रेज़ी सरकार की कूटनीति और कुछ नेता लोगों के स्वार्थ ने फिर इन दोनों के बीच नफ़रत की दीवारें खडी कर दीं जिसका परिणाम देश के विभाजन और दो राष्ट्रों के सृजन में परिणत हुआ। लेकिन दो राष्ट्रों के बन जाने से समस्या का कोई समाधान न हुआ बल्कि समस्याओं की एक श्रेणी शुरू हुई। भारत-पाक युद्ध, आतंकी आक्रमण, बाबरी मस्जिद विध्वंस, गुजरात नरसंहार जैसी घटनाएँ साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काते रहते हैं। इतिहास की ऐसी घटनाएँ साहित्यकारों की चिति को बहुत गहरे रूप से प्रभावित किया है। इन प्रकरणों पर कई उपन्यास भी लिखे गये हैं।

विभाजन के तुरंत बाद विभाजन के विषय पर लिखा गया पहला उपन्यास है रामानंद सागर का 'और इनसान मर गया' (1948) जिसमें विभाजन की विभीषिका पर प्रकाश डाला है। विभाजन के छः वर्ष बाद लिखा गया गुरुदत्त का उपन्यास 'देश की हत्या' में यथार्थ घटनाओं का चित्रण है जिसमें गाँधी की हत्या भी विषय बना है।

आचार्य चतुर्सेन शास्त्री का 'धर्मपुत्र' (1950), विष्णु प्रभाकर का 'तट के बंधन' (1955), 'निशिकान्त' (1958), यशपाल का 'झूठा सच' (1958), भैरव प्रसाद गुप्त का 'सती मैया का चौरा' (1959), भगवती चरण वर्मा का 'भूले बिसरे

चित्र' (1961), राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' (1966), कमलेश्वर का 'लौटे हुए मुसाफिर' (1971), यशपल का 'मेरी तेरी उसकी बात' (1974), भीष्म साहनी का 'तमस' (1974), मंजूर एहतेशाम का 'सूखा बरगद' (1989) आदि में विभाजन और तत्कालीन समाज में व्याप्त हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की समस्या को दिखाया गया है। नब्बे के बाद के उपन्यासों में भगवान सिंह का 'उन्माद' (1999) और भगवानदास मोरवाल का 'कालापहाड' (1999) आदि प्रमुख हैं। वीरेन्द्र यादव के अनुसार- ''भगवान सिंह का उपन्यास उन्माद' साम्प्रदायिकता और फासीवाद को लेकर नितान्त भिन्न प्रविधि और दृष्टिकोण अपनाता है। भगवानसिंह साम्प्रदायिकता को निश्चित सामाजिक व राजनीतिक दृष्टिकोण का परिणाम न मानकर इसे मनोविकार व दमित व्यक्तित्व की विकृत परिणतियों के रूप में प्रस्तुत करते हैं।''[9]

भगवान दास मोरवाल का 'काला पहाड' साम्प्रदायिक समस्याओं को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। मेवात की भौगोलिक-सांस्कृतिक अस्मिता, समूचे देश में व्याप्त विसंगतियाँ, अयोध्या-त्रासदी इन सबको उपन्यास में अभिव्यक्ति मिली हैं।

सन् 2000 में प्रकाशित कमलेश्वर का उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास के पुराने ढाँचे को तोडकर नये प्रयोग की कलाकृति सिद्ध हुई है। यह उपन्यास राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद, विश्व साम्प्रदायिकता तथा विश्व के रक्तरंजित खून खराबे की दर्दनाक कहानी का बयान और सचाई को परखने और विभाजन या पाकिस्तानों के बनने का वास्तविक कारणों का जाँचने की कानूनी कारवाई दिखाने की कोशिश है। ज़िन्दा मुहावरा (2001) में नासिरा शर्मा ने बँटवारे के पश्चात हिन्दू और मुस्लिम समाज के लोगों को किस दौर से गुज़रना पडा, इसका यथार्थ चित्रण

किया है। दूधनाथ सिंह के 'आख़िरी कलाम' (2003) में बाबरी मस्जिद ढहाने के कारवाइयों की तथा ढहाने के पश्चात के हिंसक साम्प्रदायिक वातावरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। स्वयं दूधनाथ सिंह अपने इस उपन्यास के संबंध में कहते हैं, ''अपनी मिली-जुली कौमियत को सुरक्षित और ज़िन्दा रख्ने केलिए उसके ख़िलाफ रचे गये एक षड्यंत्र का पर्दाफाश।''[10]

मुहम्मद आरिफ का 'उपयात्रा' (2006) भी बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना को केन्द्र में रख्कर लिख्ा गया उपन्यास है। 2006 में ही अब्दुल्लाह हुसैन का 'उदास नस्लें' उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसमें तीन पीढ़ियों का चित्रण है। उपन्यास में साम्प्रदायिकता के जडों की तलाश है और विभाजन के बाद सताये हुए लोगों की करुण गाथा है। व्यास मिश्र का 'अग्निपत्थर' (2007) में बाबरी मस्जिद विध्वंस और उसके बाद की राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का सच्चा वर्णन है। मस्जिद ढहाने के बाद बिहार के कोयलाँचल में हुई गतिविधियाँ ही उपन्यास के केंद्रीय विषय है। हरिचरण प्रकाश का 'एक गन्धर्व का दुःस्वप्न' (2008) भी बाबरी मस्जिद ध्वंस और राम-जन्मभूमि विवाद में सरकारी तंत्र की भूमिका को चित्रित करता है।

धर्म और आध्यात्म के नाम पर हो रहे अत्याचारों पर भी अनेक उपन्यास लिख्े गये हैं। मधु कांकरिया का 'सेज पर संस्कृत' इसका उदाहरण है। धर्म के नाम पर चल रहे आडम्बर और धर्मचार्यों के छद्म व्यवहार का सच्चा वर्णन करने में लेख्िका सक्षम हुई है।

बादशाह हुसैन रिज़वी का उपन्यास 'मैं मुहाजिर नहीं' पाकिस्तान गए भारतीय मुस्लिम नागरिकों की व्यथा कथा है। देश विभाजन की त्रासदी, पंजाब का आतंक, विस्थापन से जूझते समाज उपन्यास के मुख्य विषय बन गये हैं। नमिता सिंह का 'लेडीस क्लब' में साम्प्रदायिक समस्याओं पर भी थोडा बहुत ज़िक्र हुआ है फिर भी इसमें इससे बढ़कर हिन्दु-मुस्लिम की गंगा-जमुनी संस्कृति का सुदृढ पक्ष का वर्णन किया है।

2.1.8 आतंकवाद और कश्मीर समस्या

आतंकवाद आज विश्व की सबसे बडी समस्या है जिसकी जडें सारे संसार में फैलती जा रही हैं। आतंकवाद का उद्देश्य है हिंसा द्वारा जनता में आतंक फैलाकर अपनी मक्सद को पूरा करना, जान-माल को नक्सान पहूँचाना, निरीह लोगों में असुरक्षा की भावना पैदा करना, शक्ति के ज़रिए भय उत्पन्न करना, इस प्रकार भय उत्पन्न करके किसी समाज, राज्य या राष्ट्र तथा सत्ताधारियों से अपनी माँगें मनवाना आदि। वे अपने लक्ष्य की पूर्ति केलिए विभिन्न प्रणालियों एवं तकनीक को अपनाते हैं जैसे युद्ध, गोलीबारी, विमान अपहरण, बडे-बडे वैज्ञानिकों, राजनेताओं का अपहरण, सांस्कृतिक स्मारकों का उन्मूलन आदि। कश्मीर के मुद्दे को लेकर दहशत फैलाने के काम में कई भारत विरोधी ताकतें लगी हैं। वे भोले-भाले नौजवानों को ब्रेनवाश करके आतंकवादी बना देते हैं। उनकी सोच को बदलने केलिए हर हथकंडे अपनाते हैं। कश्मीर समस्या को केन्द्र में रखकर हिन्दी में अनेक उपन्यास लिखे गये हैं जिनमें महत्वपूर्ण हैं चंद्रकान्ता का 'कथा सतीसर' (2001), क्षमाकौल का 'दर्दपुर'(2004), पद्मा सचदेव का 'नौशीन' (1995), संजना कौल का 'पाषाण

युग', मीराकान्त का 'एक कोई था, कहीं नहीं सा', मनीषा कुलश्रेष्ठ का 'शिगाफ़' आदि।

चंद्रकान्ता के 'कथासतीसर' में कश्मीर के इतिहास, परम्परा, संस्कृति का गहरा विश्लेषण है। इसके साथ-साथ वहाँ के लोकजीवन, हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द और भाईचारे की विरासत और वर्तमान की आतंकवादी स्थितियों का चित्रण है। मीराकान्त का 'एक कोई था, कहीं नहीं सा' उपन्यास में कश्मीरी पंडितों के विस्थापन का दर्दनाक चित्रण किया गया है। लेखिका ने कश्मीर का इतिहास, संस्कृति और जनजीवन का गहरा परिचय देकर किस प्रकार कश्मीर में अलगाववादी ताकतों ने अपना पैर जमाया इसका खुला वर्णन किया है। कश्मीर समस्या को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में मनीषा कुलश्रेष्ठ का उपन्यास 'शिगाफ़' अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ई-मेल, ब्लॉग, चैट आदि शैली में आगे बढते कथानक में कश्मीरी आतंकवाद का स्वरूप, अलगाववादी संगठन, युवकों में भटकाव, मानवाधिकार हनन आदि कश्मीर के वर्तमान का सटीक वर्णन मिलता है।

सन् 2004 में प्रकाशित क्षमा कौल का 'दर्दपुर' उपन्यास में धार्मिक उन्माद और आतंक से घिरे कश्मीर संस्कृति का भयावह चित्रण है। उपन्यास में किस प्रकार राजनीतिक आपा-धापी और बेरोज़गारी ने पढे-लिखे लोगों को भी आतंकवादी बनाते जा रहे हैं और आतंकवादी राजनीति कहाँ तक खतरनाक है, इन सबका वर्णन है। 'पाषाण युग' उपन्यास के पात्र ब्रजमोहन कहता है कि स्वयं कश्मीरी भी कश्मीर को पाकिस्तान से मिलाना नहीं चाहते हैं और जो कश्मीरी पाकिस्तान चाहता है वह भी बंदूक उठाने केलिए तैयार नहीं है। कश्मीरी कभी युद्ध व आतंक नहीं मचा सकता, यह तो वर्चस्ववादी ताकतें हैं जो उसे ऐसे करने पर मजबूर कर रही हैं। वह तो स्वयं

नहीं चाहता कि कश्मीर की शांति भंग हो। परन्तु कमज़ोर मनोबल के युवक व बेरोज़गार युवकों को आतंकवादी गतिविधियों में मोहरा बनाया जाता है। सरहद पार आतंकवादी गतिविधियाँ ऐसे युवकों को फुसलाकर घाटी में दहशत फैलाती रहती है।

कुल मिलाकर सारे उपन्यास यह बताता है कि कश्मीर समस्या एक राजनैतिक षड्यंत्र के उत्पाद रूपी एक समस्या मात्र है जिसका न कश्मीरी पण्डितों का या कश्मीर वादियों का या कश्मीर के मुसलमानों का सीधा संबंध है। इसका धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। इस्लाम के नाम पर सरहद पार से युवाओं को बरगलाया ज़रूर जा रहा है। यह सीमा पार से प्रायोजित आतंकवाद है जिसकी जडें पाकिस्तान और इतिहास में है। इसे दूर करने केलिए कश्मीर के मूल निवासियों जिनमें पण्डित, मुसलमान और अन्य सब शामिल है उनसे संवाद बढाने की ज़रूरत है। उन्हें मुख्य धारा में लाना होगा। क्योंकि कश्मीरियत का मतलब है हिन्दुस्तान की साझी विरासत जहाँ सूफी है, कश्मीरी शैव दर्शन है, हिन्दुत्ववाद है, बुद्ध, जैन, सिक्ख सब हैं जो कई सालों से एक साथ रह रहे हैं। इसलिए राजनैतिक समस्या को राजनैतिक स्तर पर हल करना चाहिए, मिलिट्री से नहीं।

2.1.9 लैंगिक अस्मिता का सवाल

आज विश्व भर में मानव समाज अस्मिताओं के प्रति जागृत है। आज तमाम वंचितों के अधिकारों की बात उठने लगी है। आज हिजडा, या इतर लिंगी किन्नर समाज भी अपने अस्तित्व एवं अधिकारों केलिए आवाज़ उठाने लगे हैं और इसी का परिणाम है कि सर्वोच्च न्यायालय ने 2014 में इसके पक्ष में निर्णय दिया। साहित्य में भी इनकी स्थिति पर विचार विमर्श होने लगा है।

निर्मला भुराडिया का उपन्यास 'गुलाम मंडी' में देह व्यापार में लिप्त स्त्रियों और हिजडों का वर्णन है। उपन्यास में युवतियों को बहला-फुसलाकर दलालों के हाथों बेचे जानेवाली स्त्रियों और अपने परिवार को भुखमरी से बचाने केलिए खुद को इनके हवाले करनेवाली स्त्रियों की दर्दभरी ज़िन्दगी का चित्रण है। उपन्यास मानव तस्करी की ज्वलंत समस्याओं को भी बखूबी उठाता है। 'यमदीप' (2002) उपन्यास में लेखिका नीरजा माधव गहन शोध के पश्चात् इस समुदाय के सत्य को राष्ट्रहित में लगाने केलिए उन्हें शिक्षित करने और समाज की सेवा से जोडने केलिए आरक्षण जैसी सुविधाएँ मिलने की ज़रूरत पर बल देती हैं। इसी सिलसिले में सन् 2011 में प्रकाशित प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'तीसरी ताली' महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में लेखक समाज से बहिष्कृत हिजडों की कारुणिक व्यथा-कथा को परत-दर-परत खोलते हैं। उपन्यास में इतरलिंगों का जीवन संघर्ष, समलैंगिकता, गे मूवमेंट, लिंग परिवर्तन, अप्राकृतिक यौनात्मक जीवन शैली आदि का भी चित्रण है। मनोज रूपडा का उपन्यास 'प्रतिसंसार में' लेखक ने उपेक्षित, वंचित, घृणित, अस्वीकृत, अभिशप्त, पहचान-विहीन, समाज के बाहर फेंक दिये गये लोगों का ऐसा 'संसार' रचा है जहाँ, दुःख, शोषण, वंचना बसी हुई है। लेकिन उनके 'प्रतिसंसार' में लेखक ने करुणा, ममत्व, सहानुभूति, आत्मीयता व प्यार के मर्म दृश्य भी उपस्थित किया है। उपन्यास में मनोज रूपडा ने फैंटसी शिल्प का प्रयोग किया है।

कथाकार महेंद्र भीष्म का उपन्यास 'किन्नर कथा' (2014) हिजडों के जीवन को बडी सच्चाई के साथ उद्घाटित करता है। उपन्यास में राजपरिवार में हिजडे का जन्म होता है। सोना उर्फ चंदा किन्नर होने के कारण राजघराने में जन्म लेने के उपरान्त भी वह बहुत ही हेय जीवन जीने को विवश होती है। अधूरी देह होने की

पीडा, सामाजिक उपेक्षा, संघर्ष, अवसाद आदि को दर्शाते हुए लेखक किन्नर समाज की पीड़ा को उद्घाटित करते हैं।

चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'नाला सोपारा पोस्ट बोक्स नं 203' भी किन्नरों की स्थिति पर प्रकाश डालता है। यह उपन्यास एक ऐसे युवक की कहानी है जिसे किन्नर होने की वजह से जबरन घर से निकाल दिया जाता है। वह युवक अपने परिवार खासकर अपनी माँ से सवाल करता है कि लंगडा, बहरा, मानसिक रूप से विकलांग बच्चे को तो आप घर से बाहर नहीं निकाल देतीं लेकिन अगर मैं लिंग से विकलांग पैदा हुआ जिसमें मेरा कोई दोष भी नहीं है तो मुझे घर से बाहर क्यों निकाल दिया गया।

हमारे देश के संविधान में सभी नागरिकों केलिए समान अधिकारों का प्रावधान है। किन्नरों को भी इन अधिकारों से लिंग की वजह से वंचित नहीं किया जा सकता। किन्नरों को अचछी नज़र से न देखने का नज़रिया बदलना होगा, उनके साथ मानवीय नज़रिया जगाने की ज़रूरत है। असामान्य लिंग होने की वजह से समाज से हाशिये पर धकेल दिये गये इन लोगों की सबसे बडी समस्या आजीविका है। हमारा दायित्व है कि उन्हें अन्य सामान्य मानव की तरह संवेदनशील व्यक्ति के रूप में पहचाने और समाज में एक उपयोगी भूमिका तथा सम्मानजनक स्थान मिले। 'पंखवाली नॉव' समलैंगिकों के जीवन पर आधारित समस्या का उपन्यास है जिसमें इस प्रवृत्ति में संलिप्त व्यक्तियों की मानसिकता पर विचार करते हुए इसके औचित्य-अनौचित्य पर गम्भीरता से विचार किया गया है। यह उपन्यास विषय की नवीनता केलिए उल्लेख्य बनता है।

आज सरकार ऐसे भिन्न लिंगवालों को मुख्यधारा में लाने के उद्देश्य से उनके लिए शिक्षा, नौकरी और अन्य क्षेत्रों में आरक्षण उपलब्ध कराते हुए महत्वपूर्ण कदम उठाये जा रहे हैं। कोच्चि मेट्रो के कर्मियों में 20% ऐसे विभागवालों की भर्ती का आरक्षण इसका उदाहरण है। सामान्य तौर पर चर्चित समस्याओं से बिल्कुल भिन्न ऐसे समस्याओं पर भी समकालीन हिन्दी उपन्यासकार अपनी लेखनी चला रहे हैं।

2.1.10 किसान, श्रमिक जीवन की अभिव्यक्ति

पिछले कुछ दशकों से किसान आत्महत्या भारतीय राज्य व समाज केलिए बडी चिंता का विषय बना है। किसान, श्रमिक और मज़दूरों की ज़िन्दगी पर नज़र डाली जाए तो अभाव, गरीबी, रोज़ी-रोटी की तलाश में दरबरार भटकना, हड्डी-तोड परिश्रम, खेती की विफलता, घर-गाँव समाज से विस्थापन, शोषण, वर्षा की अनिश्चितता, कर्ज, अकाल और तज्जनित परिस्थितियाँ इनके जीवन की दर्दनाक व्यथा बन गयी है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में परम्परा से शोषित, पीडित किसानों के प्रति संवेदना, सहानुभूति तथा उनके जीवन स्तर बढाने की चिन्ता व्यक्त हुई है और मेहनतकश श्रमिक मज़दूरों के न्याय और अधिकारों केलिए भी बुलंद आवाज़ सुनाई देती है।

हिन्दी उपन्यासों में मज़दूरों की समस्या, शोषण, अन्याय, अत्याचारों पर लिखनेवाले सबसे बडे चितेरे प्रेमचंद है। श्रमिकों या मज़दूरों का जीवन चित्रण प्रेमचंद से ही साहित्य में प्रबलता से दिखाई देने लगा। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद प्रेमचंद की यह परम्परा नए लेखकों केलिए प्रेरणा बन गयी। रेणु, नागार्जुन, भीष्म साहनी, जगदीशचंद्र, रामदरश मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त आदि उपन्यासकारों ने श्रमिक किसानों का यथार्थ चित्रण हमारे सम्मुख रखा है। प्रभा

खेतान के 'पीली आँधी' और 'तालाबंदी' में मज़दूर आन्दोलनों की व्यथा का चित्रण है। संजीव के 'धार' उपन्यास में कोयला खदानों में काम करनेवाले आदिवासियों के शोषण का चित्रण है। श्रमिक नेता शर्माजी मज़दूरों में चेतना जगाने का काम करते हैं और भ्रष्ट मैनेजमेंट का भी विरोध करते हैं। उच्चवर्ग का षड्यंत्र, प्रशासनिक अधिकारियों का दमन, पूँजीवादी शोषक-प्रधान व्यवस्था, अवैध खनन, ठेकेदारों का आतंक, श्रमजीवियों का शोषण, आदिवासियों के जीवन में व्याप्त अभाव, संत्रास एवं संघर्ष को इस रचना में उभारा गया है। उपन्यास की प्रमुख पात्र 'मैना' संघर्ष, चेतना एवं विद्रोह की सूत्रधार है।

सन् 1996 में प्रकाशित रमणिका गुप्ता का उपन्यास 'सीता' आदिवासी मज़दूरों की गाथा है। खेती करके जीते आदिवासियों को स्वार्थ और पैसे की चमक-दमक दिखाकर दलाल लोग आदिवासियों को मज़दूर बनाते हैं। खदान में सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं। खदान की असुरक्षित स्थिति का वर्णन करके लेखिका लिखती हैं- ''कानूनन तो जितनी सीम की ऊँचाई हो उतना ही चौडा बेंच रखना होता है पर दो फीट से ज़्यादा भला कोई ठेकेदार बेंच कैसे रखता? उसे मुनाफ़ा कमाना है, मज़दूरों की सुरक्षा नहीं करनी। मज़दूर भी कमाने के चक्कर में अपनी सुरुक्षा को अनदेखी करते। ऐसे उन्हें मालूम भी नहीं था कि नियम क्या है? खडी कटाई करने के कारण भी कभी-कभी खदानें धँस जाती थी। मिट्टी हो तो भसक जाती थी। शुरू-शुरू में समझ न होने के कारण कितने ही मज़दूर मिट्टी में दब गए थे पर कौन पूछता था! लाश भी नहीं निकालता था कोई। थाना-पुलिस तो राजा साहब की रखैल ही थे और ठेकेदारों की दासी था थाना। पुलिस केलिए तो

ये ख़दानें उनकी लक्ष्मी थीं.. चारों तरफ मची इस पैसे की लूट में मज़दूर ज़िन्दगी की क्या कीमत हो सकती है भला!''[11]

राजू शर्मा का 'हलफनामे' (2006) किसानों की तमाम पीड़ा का दस्तावेज़ है। उपन्यास में हमारी मुख्य उत्पादक शक्ति किस प्रकार अपनी मिट्टी से मिटाया जा रहा है और कॉरपरेट, माफ़िया और सत्ता पर आसीन लोग किस प्रकार उनके ख़ून चूस रहे है इसका वर्णन है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के शासक साम्राज्यवादी ताकतों के इशारे पर अपनी मनमौजी तरीके से आर्थिक नीतियाँ चलाती हैं जिनकी वजह से किसान आत्महत्या केलिए मजबूर हो जाते हैं। उपन्यास में स्वामीराम आँध्र प्रदेश का एक किसान है जिसे सूखे की वजह से बोरवैल लगाने केलिए गाँव के प्रमुख लाला से पैसा कर्ज लेना पडता है। कर्ज में डूबा स्वामीराम पानी न मिलने की वेदना में आत्महत्या केलिए मज़बूर हो जाता है। उपन्यास में किसानों की ज़िन्दगी को और नरक में डालनेवाले जी एम कपास की खेती का भी वर्णन है। स्टेट को नये सिरे से खडा करता यह उपन्यास किसानों की समस्याओं पर नये सिरे से सोचने केलिए मजबूर करता है।

'आखिरी छलाँग' (2008) में शिवमूर्ति किसान जीवन की त्रासदी को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास में किसान जीवन की समस्याओं पर बडे ही बारीकी से वर्णन है जिसमें उनकी मूलभूत समस्या खाद, पानी, बिजली की समस्या, प्राकृतिक समस्या, फसल, फसल का उचित मूल्य न मिलने की समस्या, कर्ज की समस्या तथा आत्महत्या पर विचार है। सन् 2015 में प्रकाशित संजीव के 'फाँस' उपन्यास में किसान जीवन की विभिन्न समस्याओं को उकेरा है। उपन्यास में लेखक शोध करके अपने पैनी नज़रों में परिवेश के चित्रों को उतारकर उसका जीवन्त रूप

प्रस्तुत करता है। विदर्भ ग्रामांचल के बनगाव के किसानों की करुण गाथा कहता है। किसान आत्महत्या के साथ-साथ दहेज प्रथा, स्त्री शिक्षा, सरकार की अनुदानवाली नौटंकी, किसानों पर नौकरशाही की पकड़, लाचारी से किसानों को अपने ही खेत में मज़दूर बनाना आदि तमाम मुद्दों को औपन्यासिक शिल्प में बाँधने का प्रयास करता है। किसान जीवन को ही केंद्र में रखकर पंकज सुबीर ने 'अकाल में उत्सव' लिखा जिसमें ग्रामीण जीवन और किसानों की ज़िन्दगी पर बहुत करीने से रोशनी डाली है। उपन्यास में भारत के दो चेहरे की सच्चाई का पर्दाफाश है जहाँ एक ओर दबा-कुचला देश है और दूसरी ओर शाइनिंग, डिजिटल इण्डिया का बोलबाला है।

इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यासकार किसान, श्रमिक और मज़दूरों की वास्तविक हालत का नंगा चित्रण प्रस्तुत करके नई चेतना जागृत करने का प्रयास करते हैं।

2.1.11 कला का बाज़ार जगत

बाज़ारीकरण के युग में कला-बाज़ार भी अपना चमक दिखाता है। एक जगह हमारे कुछ पारम्परिक कलाएँ टूट रही हैं और दूसरी जगह कुछ कलाएँ अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में लाखों-लाखों में बिकाऊ बनती हैं। कला जगत की सच्चाई का चित्रण हिन्दी उपन्यासकारों ने किया है। अल्का सरावगी के 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में कला जगत के विपणन की नीति का सूक्ष्म रूप से चित्रण है। उपन्यास में व्यवसाय जगत के दो दिग्गज भट्ट और गुरु नित्य पैसा और अधिक पैसा कमाने के नये-नये तरीकों को तलाशते हैं। भट्ट कलकत्ते में नई आर्ट गैलरी खोलता है, वह इस कला बाज़ार में वैसी सम्भावनाएँ खोजता है जैसे आई.टी की दिग्गज कम्पनी 'इनफोसिस'

की है। बाज़ार में कला की आत्मा किस प्रकार खो जाती है, इसका जीवंत चित्रण करने में लेखिका सक्षम होती हैं।

रजनी गुप्त के 'एक न एक दिन' उपन्यास कला-बाज़ार में नई-नई सम्भावनाओं और कला-कृतियों के ऊँचे मूल्यों की चर्चा करता है। इस प्रकार कविता का 'ये दिये रात की ज़रूरत थी' में बहुरुपिया कलाकारों की यातनाओं का वर्णन है। प्रस्तुत उपन्यास लोककला के विलोपन पर गहरी चिंता व्यक्त करता है। उपन्यास में लोककला से जुडे लोगों की निराशा, गरीबी और बेरोज़गारी को भी संवेदनशीलता के साथ उभारा है। उपन्यास की नायिका रोशनी लगभग भुला दी गयी बहुरुपिया कला और कलाकारों को उनके उपेक्षित जीवन के बदले एक नयी ज़िन्दगी प्रदान करती है। उनके जीवन में सकारात्मक बदलाव लाने केलिए वह कड़ी मेहनत करती है। नरेन्द्र नागदेव का 'खम्भों पर टीकी खुशबू' में वास्तुशिल्पियों और भवन-निर्माताओं की दुनिया में व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण है। उपन्यास वास्तु के संसार में चल रहे माफिया-साम्राज्य का खुला परिचय देता है।

भारत संस्कृति और कला की दृष्टि में एक गरिमामय देश है जहाँ परंपरागत शासक सदियों से कला को महत्वपूर्ण स्थान देते आये हैं। इस प्रकार विभिन्न कलाओं का और कलाकारों का एक धरोहर हमारे देश में विद्यमान रहे हैं। लेकिन इन परंपरागत सांस्कृतिक कलाओं की श्रेणी से अनेक कलाएँ आज इतिहास में विलीन हो गयी हैं जिसके परिणाम स्वरूप वर्तमान पीढ़ी ऐसी कलाओं से अपरिचित व अनभिज्ञ बन गयी है।

2.1.12 मिथकीय उपन्यास

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के प्रारंभ से ही मिथकों का प्रयोग हुआ है। हिन्दू बाहुल देश में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। और यहाँ की बडी जनता पौराणिक देवी देवताओं के चरित्रों से प्रभावित है। साहित्यकार पौराणिक कथाओं और विश्वासों को युगबोध के स्तर पर युगानुरूप नए ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं।

डॉ.उषा पुरी विद्यावाचस्पति के अनुसार- ''पुराकथा, पुराणकथा या देवकथा कोरी कल्पना पर आधारित न होकर लोकानुभूति से संश्लिष्ट ऐसी कथा होती है जो अलौकिकता का भी संकेत देती है। पुराकथा जिसे अंग्रेज़ी में माइथोलजी कहा जाता है, अलौकिकता से अपूर्ण होने के कारण तर्काश्रित नहीं होती। ऐसी कथाओं की सृष्टि के पीछे कुछ आदिम विश्वास होते हैं जो कालांतर में अंधविश्वास का रूप धारण कर लेते हैं। उन विश्वासों की व्याख्या दुरूह हो जाती है और वे एक धुंधलके में आच्छन्न हो जाते है। ऐसी कथाओं तथा विश्वासों को मिथक शब्द से व्यवहृत किये जाने लगा है।''[12]

मिथक और प्राचीन ऐतिहासिक चरित्रों की नवीन व्याख्या और आधुनिक उपेक्षित चरित्रों की खोज समकालीन हिन्दी उपन्यास का विषय बना है। मिथकों को तोडकर उनमें नये अर्थ भरना उत्तराधुनिक साहित्य का लक्षण है। कुछ रचनाओं में प्राचीन चरित्रों की नयी व्याख्या करके उन्हें प्रभुत्वकारी सनातन संस्कृति से मुक्त किया है और दूसरे में उपेक्षित चरित्रों का अन्वेषण है। कभी-कभी पुराने नायक-नायिकाओं की छवि का केवल विस्तार होता है।

भगवान सिंह के 'अपने-अपने राम' (1998) पौराणिक समस्या के आधार पर वर्तमान समय को रचनेवाला उपन्यास है। पौराणिक चरित्र को प्रासंगिकता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की वैचारिकता इसमें निहित है। भगवान सिंह ने राम को कॉमरेड के रूप में प्रस्तुत किया है। ब्रजेश के वर्मन का उपन्यास 'विश्वामित्र (2010)' तथा अरुण आदित्य का 'उत्तर वनवास' (2010) रामकथा पर आधारित हैं। 'विश्वामित्र' में राम का मिथक वर्तमान केलिए समानान्तर पाठ रचता है। यह उपन्यास शूर्पणखा वध, अहल्या उद्धार आदि कथाओं को नवीन व्याख्या कर स्त्री विमर्श के अनेक प्रश्नों पर विचार करता है। 'उत्तर वनवास' में अरुण आदित्य तुलसीदास के रामचरित मानस की पंक्तियों को वर्तमान के संदर्भ में बार-बार प्रयुक्त करते हैं।

'उपसंहार' काशीनाथ सिंह का 2015 में प्रकाशित उपन्यास है जिसमें महाभारत युद्ध के पश्चात कृष्ण की कथाओं के विविध संदर्भ और परिप्रेक्ष्य निहित हैं। लेखक ने मिथकीय संदर्भों को अपने समकालीन समाज के अनुकूल पुनर्सृजित किया है। उनका कृष्ण अलौकिक परब्रह्म और भगवान न होकर मानव है। लेखक ने इस उपन्यास में यह भी दिखाया है कि दैवी शक्ति कुछ भी नहीं है, देवत्व या ईश्वरत्व को मनुष्य अपने जीवन में अर्जित करता है। कृष्ण की दूरदर्शिता और उनके अनुभवों ने ही उन्हें ईश्वर की गरिमा प्रदान करने में सहायता दी है। उन्होंने अपनी प्रजा की गरीबी और उसके भीतर समाहित आतंक को देखा और उसको समाप्त करने की कोशिश की। युद्धोपरांत द्वारका पहूँचते वक्त घायलों और वीर गति प्राप्त कर चुके लोगों की चिता देखकर कृष्ण अपने को पराजित सा महसूस करते हैं। धर्मराज्य में धर्मराजा युधिष्ठिर अपने कर्म से विमुख हैं। चारों ओर अराजकता, हिंसा, अन्याय,

अपहरण और बेईमानी का माहौल है। हस्तिनपुर, द्वारका और संपूर्ण आर्यवर्त में व्याप्त मानव विरोधी तत्वों के बहाने कथाकार आज के भारत की मौजूदा स्थितियों पर चिंतन मनन करते हैं।

मनीषा कुलश्रेष्ठ का उपन्यास पंचकन्या (2016) वर्तमान भारतीय स्त्री के जीवन, उसकी अस्मिता, उसके स्वप्नों और भविष्य की संभावनाओं को नये सिरे से प्रस्तुत करता है। वर्तमान समय में आधुनिक स्त्री के जीवन की जटिलताओं को दिखाते इस उपन्यास में तारा, कुन्ती, अहिल्या, द्रौपदी, मन्दोदरी जैसे मिथकीय चरित्रों को बारीकी से देखते हुए वर्तमान स्त्रीवाद के संदर्भों में बिल्कुल नये आयाम जोडने की कोशिश भी हैं।

इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यासकार मिथकीय संदर्भों को समकालीनता के साँचे में ढालकर युगीन माँग के अनुसार कथा की पुनर्रचना कर रहे हैं।

2.1.13 नक्सलवाद की समस्या

भारत दुनिया का सबसे विशाल लोकतांत्रिक देश है। आज़ादी मिलकर इतने साल होकर भी कई इलाकों में अब भी उन्नति की रोशनी नहीं पहूँची है। रोटी, कपड़ा, मकान, सड़क, स्वास्थ्य और रोज़गार जैसी बुनियादी सुविधाओं के अभाव में जीनेवाले लोगों की संख्या बहुत ज़्यादा है। विकास की लहर एक तरफ चली और संसाधनों के अभाव और लालफीताशाही में फंसी व्यवस्था में बडे पैमाने पर लोगों का शोषण हुआ, अधिकारों का हनन हुआ जिसका नतीजा व्यवस्था से नाराज़गी के रूप में सामने आया और आगे चलकर इसने विद्रोह का रूप धारण कर लिया जिसकी परिणति हिंसा के रूप में हुई। उन्होंने अपनी, लक्ष्य की पूर्ती हिंसा के

माध्यम से किया। व्यवस्था के खिलाफ अपने अधिकारों की लडाई केलिए हिंसा का रास्ता चुना और उनकी इस हिंसा ने नक्सलवाद का रूप धारण कर लिया।

नक्सलवाद की शुरुआत पश्चिम बंगाल के नक्सलबाडी से शुरू हुई। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के चारू मजूमदार और कानू सान्याल ने 1967 में नक्सलबाडी से यह आंदोलन शुरू किया था। वे चीन के कम्यूनिस्ट नेता माओत्से तुंग के बहुत बडे प्रशंसक थे। उनका मानना था कि भारतीय मज़दूरों और किसानों की दुर्दशा केलिए सरकारी नीतियाँ ही ज़िम्मेदार हैं। हिन्दी के कई उपन्यासों में नक्सलवाद एक मुख्य समस्या के रूप में उभरकर आये हैं।

मधु कांकरिया का उपन्यास 'खुले गगन के लाल सितारे' कम्यूनिस्ट और नक्सलवादियों पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखिका नक्सलवादी आंदोलन के दिल दहला देनेवाले विवरण देती है जो इतिहास में सामान्यतः नहीं लिखे गये हैं। प्रियंवद का उपन्यास 'छुट्टी के दिन का कोरस' विवान (विन्सेंट डगलस) के विचित्र जीवन का महाकाव्यात्मक आख्यान है। कुणाल सिंह का 'आदिग्राम उपाख्यान' में पश्चिम बंगाल के और बंग्लादेश के सीमान्त प्रदेशों में फैली नक्सलवाद की गतिविधियों का आकलन है। विजय शर्मा का उपन्यास 'दिमाग में घोंसले' नक्सली समस्या को वैश्विक संदर्भ में विश्लेषित करता है।

नक्सलवाद का सही समाधान हिंसा नहीं बल्कि आदिवासियों एवं आदिवासी क्षेत्रों के बहिर्मुखी विकास से ही संभव है। यही बात समकालीन हिंन्दी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से पाठकों के सम्मुख रखते हैं।

2.2 भाषागत प्रवृत्तियाँ

2.2.1 संरचना में नवीनता

वर्तमान साहित्य में रचनाकार द्वारा नई शैलियों का प्रयोग किया जा रहा है। लेखक अपने मौलिक शैली वैशिष्ट्य को शब्दबद्ध करते हुए बिल्कुल भिन्न भाषा, शिल्प एवं शैली का प्रयोग कर रहे हैं। तब प्रत्येक रचना रोचक एवं आकर्षक बनती जा रही है। इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में दो उपन्यास प्रकाशित हुए जिसके ढाँचे को कुछ लोगों ने उपन्यास की परिधि में नहीं रखता। 'कितने पाकिस्तान' के बारे में विष्णु प्रभाकर का कथन है-"कमलेश्वर ने उपन्यास के बने बनाए ढ़ाँचे को तोड़ दिया है और लेखकीय अभिव्यक्ति के लिए सबकुछ संभव बनाने का दुर्लभ द्वार खोलकर एक नया रास्ता दिखाया है।"[13]

'कितने पाकिस्तान' में अनेक नयी कथा युक्तियों का प्रयोग किया गया है। उपन्यास के प्रारंभ में कथानायक और उसकी सहपाठी की प्रेमकथा है। कभी कहानी में आत्मकथात्मक संस्पर्श आता है। फिर कारगिल युद्ध प्रसंग और उसके पीछे की राजनीति का सविस्तार खुला चित्रण पत्रकारिता की रिपोर्टिंग शैली में किया गया है। एक अध्याय में देश के शोकग्रस्त समय में एक पत्रकार का प्रवेश होता है। फिर एक अध्याय में उसके सामने महमूद हाजिर हो जाता है जो पिछली सदियों में राजा रामचन्द्र के सतयुग में जाकर उनसे शंबूक वध की कैफियत मांगता है। फिर वैदिक युग का भी चित्रण है जिसमें अहिल्या प्रसंग उठाकर पुरुष वर्चस्ववादी समय में स्त्री की दशा पर विचार किया गया है। फिर महाभारत काल में चला जाता है और उस भीषण रक्तपात पर आँसू बहाता है। फंतासी शैली के इस नये प्रयोग के द्वारा इतिहास में बिले गये प्रश्नों के जवाब को मांगे गये हैं।

काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी' (2002) भी अपनी विशिष्ट संरचना के कारण प्रसिद्ध है। लोक में प्रचलित भाषा का प्रयोग उपन्यास के सौंदर्य को बढाता है। प्रत्येक अध्याय को एक स्वतंत्र कहानी के रूप में भी पढा जा सकता है। संस्मरण शैली, आत्मकथात्मक शैली और काशी की बोलीबानी के सहज संस्कार पूरे उपन्यास में झलकते हैं। लोकगीतों का प्रयोग, काव्यात्मक भाषा का प्रयोग दोनों उपन्यास को नयी कथा युक्ति की दर्जा देता है। रवींद्र वर्मा का उपन्यास 'दस बरस भँवर' में खंडों और अध्यायों का विभाजन शोध प्रबंधों की मानक शैली में किया है तथा 1.1, 1.2, 2.1, 2.2.... आदि। उषा प्रियंवदा का 'भया कबीर उदास' डायरी शैली में लिखा गया उपन्यास है। कैंसर डायरी , कैंसर डायरी-II, कैंसर डायरी-III, कैंसर डायरी-IV, कैंसर डायरी-V आदि नाम से शीर्षक का अध्याय विभाजन किया गया है। कमल कुमार का 'पासवर्ड' रिपोर्ताज शैली में लिखा गया उपन्यास है। सुरेंद्र वर्मा का 'काटना शमी का वृक्ष पद्मपंखुरी की डार से', अल्का सरावगी का 'शेष कादंबरी', अनामिका का 'तिनका तिनके पास', दूधनाथसिंह का 'आखिरी कलाम', अखिलेश का 'निर्वासन', प्रियंवद का 'परछाई नाच' आदि उपन्यास कथाशैली और पूरी बनत में उपन्यास का एक नया शिल्प उद्घाटित करता है।

2.2.2 दृश्य माध्यमों से बदली भाषा

समय के साथ बदलते संप्रेषण माध्यमों के विनियोग के कारण भी कथा के आख्यान में नयापन प्रकट होता है। आज कथा लेखन में इंटरनेट, मोबाईल, ई-मेल, ब्लॉग आदि तकनीकी विधियों का दखल बढ़ा है। सूचना प्रौद्योगिकी की विभिन्न तकनीकों, ई-मेल, फेसबुक, ब्लॉग वाली भाषा का प्रयोग समकालीन हिन्दी उपन्यासों में भी हो रहे हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ के 'शिगाफ़' में ब्लॉग भाषा का प्रयोग हुआ है।

अखिलेश के 'निर्वासन' में मुद्रण- भिन्नता के साथ इन सारी नयी विधियों का भी प्रयोग हुआ है। पत्र, डायरी और साक्षात्कार शैली के साथ-साथ लैपटॉप किस प्रकार अनुसंधान केलिए सहायक होते हैं इसका वर्णन उपन्यास में मिलता है।

2.2.3 जादुई भाषा का प्रयोग

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में चमत्कारी नयापन ज़्यादा दिख रहा है। जिस प्रकार हम दृश्यमाध्यमों से घिरे होकर यथार्थ से कटकर अयथार्थ जीवन बिताने को बाध्य बनते हैं, जिस प्रकार नयी-नयी तकनीकों, पद्धतियाँ हमारे सामने उभर आते हैं, उसी प्रकार भाषा में भी नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। प्रियंवद का 'परछाईं नाच', विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' और अखिलेश का 'निर्वासन' में भी इसका उदाहरण मिलता है।

2.2.4 हिंग्लिश का बढ़ता प्रयोग

आज जिस बहुलता से अंग्रेज़ी का प्रयोग जीवन में हो रहा है, उसी प्रकार उपन्यास में भी अंग्रेज़ी शब्दावली, पदों, वाक्यों का प्रयोग हो रहा है। इंग्लिश को हिन्दी लिपि में लिखने केलिए हिंग्लिश कहते हैं। समकालीन हिन्दी है अनेक उपन्यासों में इसका उदाहरण मिलाते हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ का 'शिगाफ', 'पंचकन्या', राजू शर्मा का 'विसर्जन' अल्का सिंहा का 'जी मैल एक्सप्रस' आदि कई उपन्यासों में हिंग्लिश का बढ़ता प्रयोग नज़र आते हैं।

इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यास वर्तमान समय और समाज को अपनी संपूर्णता में उद्घाटित करता है। वह अपने कथ्य और भाषा वैशिष्ट्य में भिन्नता एवं नवीनता के साथ आगे की ओर प्रयाण करता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मैनेजर पाण्डेय से साक्षात्कार- भाषा और भूमण्डलीकरण, पृ.91
2. सच्चिदानन्द सिन्हा, भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, पृ.96
3. परछाईं नाच- प्रियंवद, पृ.102
4. उद्धृत 'दलित साहित्य दशा और दिशा', पृ. 32
5. जयप्रकाश कर्दम- 'दलित साहित्य', पृ. 277
6. प्रभा खेतान - उपनिवेश में स्त्री, पृ.53
7. कथादेश- मई 2002, पृ. 39
8. पुष्पपाल सिंह- 21 वीं सदी का हिन्दी उपन्यास, पृ.136
9. वीरेन्द्र यादव- उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 198
10. डॉ. नामवर सिंह -आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ. 112
11. रमणिका गुप्ता- सीता मौसी, पृ.12
12. डॉ.उषा पुरी विद्यावाचस्पति- भारतीय मिथक कोश, भूमिका से उद्धृत
13. पुष्पपाल सिंह- 21 वीं सदी का हिन्दी उपन्यास, पृ. 179

तीसरा अध्याय

मूल्य संक्रमण की स्थितियाँ : समकालीन हिन्दी उपन्यासों में

भारतीय समाज आज ऐसी विशेष परिस्थिति से गुज़र रहा है जहाँ पुराने मूल्य नकारे जा रहे हैं और जिसके स्थान पर नये मूल्य पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नहीं हो पा रहे हैं। यह एक ऐसा संक्रमणशील समय है जहाँ तमाम तरह के मूल्य एक दूसरे से टकरा रहे हैं। मूल्य संक्रमण की इस स्थिति में नैतिकता का ह्रास हो रहा है। श्लील-अश्लील, पाप-पुण्य की विभाजनरेखा विस्थापित हो गयी है। पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक क्षेत्रों में, सामाजिक व्यवहारों में और आदर्शों में परिवर्तन होता जा रहा है।

मूल्य संक्रमण का प्रथम परिदृश्य पारिवारिक स्तर पर देखने को मिलता है। नयी और पुरानी पीढ़ियों का संघर्ष प्रायः हर युग की समस्या रही है। लेकिन भूमंडलीकरण के इस युग में यह समस्या ज़्यादा संकीर्ण हो गयी है। पुरानी और नयी पीढ़ी में द्वन्द्व, स्त्री शिक्षा, पुरुष के प्रमुखता का ह्रास, पति में देवत्व भावना का ह्रास आदि समय की वास्तविकता बन गयी है। आज के युवा परंपरागत जीवनशैली को जीर्ण मानकर उसे छोड़ रहे हैं। बुज़ुर्गों के प्रति अनादर हो रहा है। उपभोगवादी संस्कृति के कारण संबंधों में शिथिलता हो रही है। व्यक्ति का मूल्यांकन अर्थ के आधार पर हो रहा है। चारों ओर भ्रष्टाचार, जातिवाद, स्त्रियों के प्रति अत्याचार, यौन शोषण, विकास से उत्पन्न विध्वंस, धार्मिक कट्टरता, सांप्रदायिकता आदि का बोलबाला है। आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप स्टेट द्वारा अपनायी गयी नीतियाँ, विकास योजनाएँ आदि का नकारात्मक प्रभाव हो रहा है। दृश्य माध्यमों से घेरे समाज में संबंधहीनता और संवेदनहीनता की स्थिति पनप रही है। समकालीन हिन्दी के उपन्यासकार इन सभी स्थितियों को शब्दबद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं।

3.1 पारिवारिक आयाम

परिवार समाज की प्राथमिक और महत्वपूर्ण संस्थागत इकाई होती है। प्राचीन काल से भारत में संयुक्त परिवार की परंपरा का प्रचलन रहा था जहाँ सभी लोग एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करके सदभावना के साथ एक साथ रह-रहे थे। कर्तव्य और परोपकार की भावना संयुक्त परिवार का मूलाधार रहे थे। वहाँ बच्चों का दायित्व माता-पिता व अन्य बुज़ुर्ग ख़ुशी ख़ुशी से निभाते थे। युवा अपने घर के वृद्धों का सम्मान बरकरार रखते थे। लेकिन वर्तमान युग में संयुक्त परिवार लगभग समाप्त हो गये हैं। उनके स्थान पर एकल परिवार आ गये हैं। औद्योगीकरण के युग में खेती केलिए ज़मीन कम होती जा रही थी और व्यक्ति को अपनी आजीविका चलाने केलिए परिवार से दूर जाकर रोज़गार करना पड़ा था। आज 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना खंण्डित होती हुई एकल परिवार या परिवार विहीन संस्था को जन्म दे रही है। रमेश उपाध्याय के अनुसार ''इन सब चीज़ों के मूल में होती है निजी संपत्ति तथा उसकी रक्षा केलिए हर स्तर पर तैनात पूँजीवादी व्यवस्था लेकिन वह व्यवस्था जिस रूप में चल रही है, उससे समाज में ऐसा संतुलन पैदा हो रहा है जो परिवार को ही नहीं समूचे समाज की संरचना को भी ध्वस्त कर सकता है।''[1] इसके कारण व्यक्ति की पूँजीवादी सोच तथा, उसकी स्वार्थपरता तथा उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण हैं। पूँजीवाद ने बाज़ार को फैलाया और बाज़ार ने इतनी ज़रूरतों को पैदा कर दिये हैं कि हर व्यक्ति अलग-अलग रूप में उपभोक्ता बने।

3.1.1 पुरानी और नयी पीढ़ी में द्वन्द्व

प्रत्येक युग में समाज में दो पीढ़ियाँ और कहीं-कहीं उससे भी अधिक पीढ़ियों के लोग एक ही परिवार में एक साथ जीवन यापन करते देखे जाते हैं। इन सब

पीढ़ियों के बीच आपसी प्रेम, आदर, ममता, श्रद्धा और स्नेह का भाव होना अनिवार्य है। लेकिन आज की जीवनशैली के कारण पुरानी और नयी पीढ़ी में वैचारिक टकराव दिखाई देता है। आजकल पूरा जीवन अर्थ प्रधान हो जाने के कारण संबंधों की जो गरिमा है वह फीकी होती नज़र आती है। दो पीढ़ियों के लक्ष्य, आदर्श, सोच आदि में बडा अंतर और भिन्नता आ गयी है। दोनों पीढ़ियों के मूल्यों, विश्वास, व्यवहार तथा प्रतिमान में काफी अन्तर आ गया है।

आखिरी कलाम में आचार्य तत्सत पांडेय कहते हैं- ''मैंने एक पीढ़ी का निर्माण किया। किस तरह? मर-खपकर। जीवन देकर। और उसका हश्र-अब ये हैं! कुछ नहीं बचता। नालायक पीढियाँ-बस। मैंने क्या सोचा था और क्या हुआ! सिर्फ हनुमानचालीसा का पाठ और टुनटुनाती घंटियाँ। गधों और खच्चरों का घर है ये। और फाटक पर टाँका है- प्रोफेसर तत्सत पांडेय। और छत पर भरे हैं स्पेयर पार्टस और मोबिल और टायर! वाहा, वाह्, वाह्...।''[2] यहाँ तत्सत पांडेय एक आदर्श अध्यापक है जिन्होंने अपने बच्चों को शिष्यों को इनसान बनाने का काम किया। वे अपने बच्चों को हिन्दू-मुस्लिम, ब्राह्मण और क्षत्रिय बनाना नहीं चाहते थे। बडी मेहनत से उन्होंने एक पीढ़ी का निर्माण किया था। लेकिन उनकी ही पीढ़ी हिन्दू और मुसलमान हो गये। यह हमारी समय की बडी विडंबना है। आज धार्मिक कट्टरता उदारवादी मूल्यों पर बहुत भारी पड रही है। ऐसे में आचार्य तत्सत पांडेय अपने को निरीह एवं निरूपाय महसूस करता है। यहाँ पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी में द्वन्द्व का मामला यह है कि पुरानी पीढ़ी जिन आदर्शों, मूल्यों को लेकर चलती है जिसके लिए सांप्रदायिक सौहार्द एक बड़ा मूल्य रहा है, नयी पीढ़ी केलिए ये सब बेकार की चीज़ है। ऐसे में द्वन्द्व का होना स्वाभाविक है।

पीढ़ियों के बीच के वैचारिक टकराव को अखिलेश ने 'निर्वासन' में अभिव्यक्त किया है। बाज़ार के पीछे भाग रही पीढ़ी की संवेदनहीनता को चित्रित किया है। 'निर्वासन' में चाचा के बच्चे उस उत्तराधुनिक पीढ़ी के प्रतिनिधि चरित्र हैं जिनके लिए परंपरा, स्मृति और संबंध चेतना का कोई स्थान और महत्व नहीं है। आभासी यथार्थ को यथार्थ माननेवाली इस नयी पीढ़ी के लिए संबंधों का कोई महत्व नहीं है। उस पीढ़ी केलिए चाउमिन, बर्गर, मोबैल, डीवीडी, फैशन, मनोरंजन आदि ही जीवन है। एक बार चाचा जब बीमार होकर बिस्तर पर पड़ जाता है, तब उनके पूरे परिवार मज़ा कर रहे थें। चाचा सूर्यकान्त से कहता है- ''इधर मैं तक्लीफ़ से तड़फड़ा रहा हूँ और बगल के कमरे में साले सब मैगी ख्राते हुए टी.वी देख्र रहे हैं। उस वक्त मुझे लगा कि मैं कितना अभागा और अकेला हूँ। बेटे से कहा दवा दे दे। वह मोबाइल को होल्ड पर रख्कर तमतमाता हुआ आया और दवा मेरे सामने पटक दी। मैंने कहा- 'ये दवा नहीं ज़हर दे रहे हो मुझे। वह बोला-काश! वह होता मेरे पास'।''[3] इसका मतलब यह है कि नवपीढ़ी इतनी संवेदनहीन हो गयी है कि अपने बीमार पिता को दवा देने का भी वक्त उनके पास नहीं है। जब चाची चिल्लाती हुई आकर कहा-'ख्रुद ले लिया करो' तब चाचा को यह बर्दाश्त न हुआ। उन्होंने कहा कि 'मैं बहुत जल्दी मरूँगा। मैं मर जाऊँगा तो तुम लोग ये गुलछर्रे उड़ाना भूल जाओगे।' तब बेटी ने अपने मोबाइल पर का एक चुटकुला चाचा को समर्पित किया, जो इस प्रकार था-

> ''*Golu ki papa se ho gayee ladayee*
> *papa ne golu ki khub ki pitayee*
> *gusse se golu ka khaula khoon*
> *aur papa ki photo kabristan me*
> *latkakar likh diya- coming soon*.''[4]

यहाँ पिता और बच्चों के बीच इतना दरार आ गया है कि बाप को आदर और सम्मान देना तो बहुत दूर मज़ाक रूप में ही सही माँ-बाप को कब्रिस्तान तक पहूँचाने के लिए भी आज की पीढ़ी तैयार है।

3.1.2 परिवार में स्त्री की स्थिति

समाज में पहले संयुक्त परिवार हुआ करती थी जहाँ सबसे ज़्यादा दिक्कत स्त्री और पुरुष के संबंध में था। परिवार का मुखिया पुरुष होता था और निर्णय लेने का अधिकार स्त्री के पास नहीं था। एंगेल्स ने कहा था परिवार में पति बुर्जुआ होता है और पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है। परिवार में जो श्रम स्त्रियाँ द्वारा की जाती थी उसे परिवार में कोई मान्यता नहीं देते थें। परिवार में स्त्री के प्रति तानाशाही अनुशासन हो रहा है। उसके लिए दोयम दर्जा दिया जा रहा है।

'अन्हियारे तलछट में चमका' में बिट्टो की माँ नौकरी करती थी और वह गाँव की पहली ग्रेजुएट थी। एक प्राइमरी स्कूल में काम करती थी और गृहस्थी भी चलाती थी। अपनी कमाई के पैसे पर भी उसे कोई अधिकार नहीं था। बिट्टो तन्ख्वाह लाकर हर महीने पति के सामने स्टूल पर रखनी पड़ती थी उन्हें और चरण छूकर आशीर्वाद भी लेनी पड़ती थी। उसके पहले उसे सासू माँ का चरण छूनी पडती थी जिसके बदले उसे 'पुत्रवती' होने का आशीर्वाद मिला था। वे अपने पति का ताना और मार सहने केलिए अभिशप्त थे। यहाँ लेखिका ने स्त्री जीवन की विडंबना और परवशता को गहराई में उजागर किया है। इस उपन्यास में संयुक्त परिवार में जड़ सामन्ती संरचना के भीतर पिसती अनेक स्त्रियों का वर्णन है। इस निम्न मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार के सारे पुरुष स्त्रियों को महज देह ही समझते हैं। स्त्री उनकेलिए घर के भीतर मात्र दैहिक संतुष्टि का साधन है।

पारिवारिक संरचना स्त्री देह को गुलाम बनाकर रखती है। जैसे जयश्री रॉय के दर्दजा में स्त्री खतना के नाम पर पितृसत्ता स्त्री की देह को आधा-अधूरा करता है। माहरा सोचती है- "कई बार मुझे प्रतीत होता था रिवाज़ों में, नियम-कानून तथा आचार-व्यवहार में औरतों के प्रति अवमानना छिपी रहती है, एक तरह की साजिश-उसे दबाने की, कुचलने की, प्रताड़ित करने की। वह हमेशा अधीन रहे, असहाय रहे, निर्भर रहे.. एक ही परिवार में भैया और हम बेटियों के बीच कितना फर्क किया जाता है।"[5] यहाँ पितृसत्तात्मक पारिवारिक संरचना जिस प्रकार एक स्त्री को बनायी जाती है इसका विवरण है। सदियों से जड़ जमाकर बैठी पितृसत्ता के इस खूँटे से मुक्त होने केलिए आज की स्त्री संघर्षरत है।

3.1.3 संबंधों के प्रति स्त्री की बदलती नज़रिया

जिस माँ ने घर में घर की चार दीवारी में पर्दे की ओट में दिन-रात गृहस्थी चलायी थी, अपने सुख-सुविधाओं का ध्यान रखे बिना रूखा सूखा खाकर जीवन बितायी थी, उसकी बेटी आज शिक्षित होकर स्त्री के ऊपर होनेवाले अत्याचार को पहचानकर अपनी हक की लड़ाई लड रही है। वह पढी लिखी पीढ़ी पूरी दुनिया से जुडी हुई पीढ़ी थी। शिक्षा के माध्यम से, तकनीकी माध्यमों से दुनिया का पूरा खबर जान रही थी वह। वह समझदार होकर आत्मनिर्भर होकर समाज की मुख्य धारा में आने लगी। जब स्त्री आत्मनिर्भर होती है, पढ़ी लिखी होती है तब निर्णय लेने में भी अपनी भागीदारी देती है।

'अन्हियारे तलछट में चमका' में बिट्टो अपनी माँ की विवशता देख रही थी। बिट्टो की पीढ़ी अपनी अस्मिता को कुचलकर समर्पण को अपनाने का विरोध करती है। वह कहती हैं- "बाद में हम बहनों के बार-बार टोकने पर माँ ने

चरण छूकर आशीर्वाद लेना बंद कर दिया।"[6] बिट्टो आगे पढ़ने केलिए बहुत लडी थी। बिट्टो और उसकी दीदी भी ससुराल से भाग आयी थीं। क्योंकि वे बचपन से अपने पिताजी का अन्याय देख्र रही थीं, हमेशा माँ को मारते-पिटते देख्र रही थीं। "इसीका परिणाम था कि जब शादी के कुछ समय बाद ही मेरी बड़ी बहन पर उनके पति ने हाथ उठाया तो एक दम आपा ख्रो बैठीं। उस मारनेवाले हाथ को वो तोड़कर, मोड़कर फेंक देना चाहती थी। लेकिन तोड़कर रह गयीं, फेंक नहीं पायीं। इसका अफसोस उन्हें आज तक था। माँ को दूसरा अफसोस आज तक था कि वे युद्ध का बिगुल बजाकर अपनी ससुराल से भाग आयी थीं। लड़कर शहीद नहीं हुई थीं जबकि बड़ी बहन इसका उलट सोचती थीं। वे कहती थीं कि वे आयीं अपना पक्ष मजबूत करने। अपने लोगों का समर्थन पाने और अपनी सेना तैयार करने केलिए। यहीं वे चूक गयी थीं। उनके लोग, उनके युद्ध में शामिल होने से कतरा गये थे। माँ से उम्मीद वैसे भी नहीं की जा सकती थी। वे अपने ही युद्ध में हारी हुई थीं।"[7] इससे स्पष्ट होता है कि बिट्टो की पीढ़ी पितृसत्ता के अन्याय कभी बर्दाश्त नहीं करते। वे उसके प्रति आवाज़ उठाने में नहीं हिचकतीं। वे पूरी हिम्मत के साथ स्वाभिमान के साथ आगे बढती हैं।

आज की पीढ़ी अपने जीवन साथी को ख्रुद ढूँढ लेती है। कविता का उपन्यास 'ये दिये रात की ज़रूरत थे' में रोशनी ख्रुद अपना वर ढूँढ़ती है। पहले माँ-बाप ढूँढ लेते थे, लेकिन आज की पीढ़ी अपना भविष्य का निर्णय ख्रुद लेती है और सबसे बडी बात यह है कि अगर स्त्री की इच्छा नहीं है तो भले ही उसके पति हो उसके साथ यौन संबंध रख्रने केलिए सहमत नहीं होती है। 'अन्हियारे तलछट में चमका' में इसका उदाहरण मिलता है। पति के वहशीपन से तंग आकर बिट्टो कहती

है- ''प्रयोगों केलिए मेरी देह नहीं बनी है।''[8] बिट्टो के पति केलिए प्रेम का कोई मतलब ही नहीं, लेकिन बिट्टो का प्यार देह से परे हैं। वह कहती है- ''तुम मुझे संपूर्णता में चाहिए... देह के पार भी चाह लेती तुम्हें। पर तुम! तुम हो कि इस देह से पार जाना ही नहीं चाहते। यहीं अटक गये हो।''[9]

प्रियंवद के 'परछाईं नाच' में शेमल बचपन से अनहद से प्यार करती है। लेकिन उसकी शादी दूसरे आदमी से हो जाती है। पति गुज़र जाने के कारण फिर वह अपनी बेटी को लेकर मायके में आती है। शेमल फिर से अनहद के साथ संबंध बनाये रखती है। जब बेटी अगली बार होस्टल से छुट्टी में आएगी तब वे दोनों के रिश्ते बेटी से कहनेवाले थे लेकिन उसके पहले ही उनके संबंध को बेटी देखती है तब वह शेमल से कहती है- ''कुतिया हो तुम।''[10] कुछ देर की रुलाई के बाद वह अनहद से पूछती है- ''हमने जो किया प्रेम था न?''[11]

जब बेटी अनहद और शेमल के साथ संबंध को देख लेने पर भी उसे कोई अपराध बोध महसूस नहीं करती है। उसे अपने पवित्र प्रेम पर उतना विश्वास है।

आज की स्त्री सामाजिक व्यवस्था द्वारा बनायी गयी दीवारों को तोड़कर अपनी दृष्टिकोण में अपनेलिये जो समीचीन है उसे स्वीकारती और स्वाभिमान के साथ आगे बढ़ती है। जब कभी भी उसकी अस्मिता को कुचलने की कोशिश होती है उसका विरोध करते हुए आगे बढ़ती है।

3.1.4 बुज़ुर्गों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार

भूमण्डलीकरण के पश्चात् भारतीय समाज में वृद्धावस्था ने एक गंभीर समस्या का रूप धारण कर लिया है। संयुक्त परिवार के टूटने से वृद्धों की देखभाल

की समस्या विकट रूप धारण करती चली जा रही है। जिस बच्चे को पाल-पोसकर बड़ा किया उसके ही द्वारा अपमान और दुःख सहने को बाध्य होते हैं। बूढे माँ-बाप के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार उसकेलिए कोई अपराध नहीं बन गया है। अब मानव और चीज़ में कोई फरक नहीं होते हैं। जो चीज़ उसकेलिए उपयोगी नहीं है, वह फेंकनेलायक है। वृद्धों की स्थिति भी ऐसी बन गयी है। मनुष्य को उपयोगिता, और अनुपयोगिता के तराजू में तौला जाने लगा है।

'गिलिगडु' में चित्रा मुद्गल ने बाबू जसवंत सिंह और कर्नल स्वामी के माध्यम से वृद्धों के अकेलेपन, पारिवारिक त्रास, पीढ़ीगत अन्तर आदि का बहुत मार्मिक चित्रण किया है। ऐसा कहा जाता है संतान ही माँ-बाप की असली संपत्ति होती है, जिनकी खुशी केलिए माँ-बाप अपनी कमाई की पाई-पाई जुटाते हैं। माँ-बाप अपने बच्चों के प्रति अपना कर्तव्य अच्छी तरह निभाते हैं। लेकिन जब बच्चे बडे हो जाते हैं तब माँ-बाप की इच्छाओं का भी ख्याल नहीं रखते। बूढे माँ-बाप को खाने पीने में भी अपनी इच्छा-अनिच्छा प्रकट नहीं कर सकते। बाबू जसवंत सिंह सोचते हैं- ''दरअसल दिल्ली आकर वे भूल ही गए कि भोजन में उनकी पसंद का कोई महत्व शेष है। अकसर उन्हें वह खाना पड़ता है या खिलाया जाता है जो उनके ढीले और खोखले हो आए दांतों और बिगड़े हाजमे को मंजूर नहीं होता। पसंद की बात दरकिनार भी कर दें तो उखरनेवाली बात है उनके नाश्ते-पानी का कोई समय नियत न होना।''[12] बहू सुनयना भी खाने-पीने में उनकी पसंद-नापसंद नहीं पूछती। पित्जा, बर्गर, न्यूडल्स, रशियन सलद जैसे खाना उन्हें नहीं भाता था। खाने में कुछ भी खाना उनकेलिए संभव नहीं था। बुज़ुर्गों के प्रति की जा रही उपेक्षा का चित्रण इस प्रकार है- ''फ्रिज में रखा बासा-कूसी उसकी अम्मा ने कभी उन्हें नहीं पिलाया।

सो पेट को उसकी आदत नहीं। रोटी भी तुरंत सिकी ही खा सकते है वे। बनी रखी दांतों से चबती नहीं। जवाब में नरेंद्र के लंबे-चौडे भाषण ने बाबू जसवंत सिंह को नसीहत पिलाई कि आईंदा वे अपनी पसंद की गुंजाइश इस घर में न ढूँढें तो बेहतर है। नरेंद्र की सलाह वाजिब लगी कि उन्हें वक्त की मारामारी देख वक्त के साथ चलने का अभ्यास डालना चाहिए।"[13]

वर्तमान समय में मानव दूसरों की इच्छा अथवा विचारों की बिल्कुल भी कदर नहीं करते, बल्कि हमेशा अपने लक्ष्य के बारे में सोचते हैं। दूसरों को दुःख पहूँचाकर भी अपना लक्ष्य पाने में आतुर रहते हैं। अधिक पैसा कमाने की लालच में मनुष्य अपने परिवार, परिवार के सदस्यों की मानसिकता, उनकी भावनाएँ, इच्छाओं के बारे में सोचने केलिए उनके पास न समय है और न संयम। उपन्यास में जिस नरेंद्र को अपने पिता के बैंक के लोकर का किराया भरना फिजूल खर्च लगता है, वही नरेंद्र वृद्धाश्रम का खर्चा उठाने केलिए सहर्ष तैयार हो जाता है। यह प्रसंग अपने बूढे माँ-बाप को उपयोगिता और अनुपयोगिता की दृष्टि से देखनेवाले आज की पीढ़ी किस हद तक गिर सकती है, इसका जीवंत उदाहरण है।

आज बुज़र्ग पीढ़ी वर्तमान पीढ़ी केलिए एक बोझ सा बन गया है। यानी कि उपभोगवादी संस्कृति में उपयोग करें और फेंकें (use and throw) सिद्धांत के आदी होकर जो भी अनुपयोज्य है घर से बाहर फेंकने की प्रणाली अपनाते हैं। उनके अनुसार अनुपयोज्य वस्तु केलिए घर में कोई स्थान नहीं है। जबकि अनुपयोज्य वस्तु केलिए खर्च और समय बिताने की बात जो है सोचने की परे की बात है। इस प्रकार बिल्कुल अपने बुज़ुर्गों को अपने साथ रखकर मुसीबत झेलना नहीं चाहते।

3.2 धार्मिक आयाम

धर्म मानव समाज के केंद्र में है। विश्व के तमाम समाजों में अलग-अलग समय में धर्म का स्वरूप अलग-अलग रूपों में विद्यमान रहा है। समाज के हर क्रिया कलापों में धर्म की महत्ता हमेशा बनी रही है। धर्म का संबंध हमेशा राजनीतिक सत्ता से रहा है चाहे वह सामंतवाद हो या आधुनिक लोकतंत्र। लेकिन जिस रूप में सामंतवाद के साथ धर्म का संबंध रहा है वैसा संबंध आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में देखने को नहीं मिलते। धर्म व्यक्ति, समाज या संप्रदाय के निजी आस्था का विषय है जिसे लोकतांत्रिक देशों के संविधान में उनके मौलिक अधिकारों के अंतर्गत रखा गया है जिसमें व्यक्ति को समाज के धार्मिक मान्यताओं या रीति-रिवाज़ों के अनुकूल आचरण कर सकता है और अपने धार्मिक मान्यताओं को सुरक्षित रखने का भी अधिकार है। 1948 के मानवाधिकारों के घोषणापत्र में भी धर्म को व्यक्ति या समाज विशेष का निजी अधिकार के रूप में माना गया है।

भारतीय परिदृश्य में देखा जाय तो यह कहना उचित होगा कि भारत विविध धर्मों, संस्कृतियों और रीति-रिवाज़ों को माननेवाली संस्कृति का देश रहा है। भारत की यही ख़ासियत है कि यहाँ के किसी भी धर्मावलंबी शांति और सौहार्दपूर्ण जीवन बिता सकते हैं। और इसका प्रावधान भारत के संविधान में भी दिया गया है। यानी यहाँ कोई किसी भी धर्म को स्वीकार करके पूर्णतः स्वतंत्र रूप में जीवन यापन करने का अधिकारी है।

3.2.1 आस्था और अंध विश्वास

भारत में अति प्राचीन युग से अनेक धर्म रहे हैं। प्रत्येक धर्म में किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास रखने की प्रेरणा है। आजकल 'धर्म' और 'ईश्वर' की

धारणा में परिवर्तन आया है। किसी अलौकिक शक्ति के प्रति आस्था धर्म की आत्मा है। धर्म का अर्थ है- धारण करना, जिसका संबंध आचरण से है जिसका मूल मानवतावाद होता है। धर्म मानव कल्याण के लक्ष्य हेतु बनाया गया था। आज धर्म ईश्वरत्व से मुक्त होकर मनुष्यत्व में परिवर्तित होने लगा है। विज्ञान और तकनीकी विकास के कारण ईश्वर की सत्ता में विश्वास कम हो गया है। ''अब धर्म ईश्वरत्व से मुक्त होकर मनुष्यत्व से सम्बद्ध होता रहा है। धार्मिक विश्वासों का विघटन हो रहा है। तर्क और विश्लेषण प्रवृत्ति के कारण धर्म के प्रति आस्था धीरे-धीरे कम हो गयी है। आज धर्म को यथार्थ की कसौटी पर कसा जा रहा है।''[14]

आज धर्म अंधविश्वास का पर्याय बन गया है। समकालीन उपन्यासकारों ने धार्मिक मूल्यों के विघटन की वास्तविक झांकी हमारे समक्ष प्रस्तुत की है। दूधनाथ सिंह के 'आखिरी कलाम' उपन्यास में धर्म, धार्मिक कट्टरता, मिथक को इतिहास में बदलने की कोशिश आदि का पर्दाफाश किया है। आचार्य तत्सत पांडेय उपन्यास के केंद्रीय पात्र है। उनके चारों ओर अंध आस्थाओं का घना कुहरा छाया है। लेकिन वे हमेशा तर्क के माध्यम से विचारों को अपनानेवाला आदमी है। उसके पिताजी एक पुरोहित थे और उनकी बहू गायत्री भी ऐसे ब्राह्मण परिवार से आती है जहाँ पूजापाठ और कर्मकांड आदि केलिए नियमित स्थान दिया गया है। भक्ति की कट्टरता बहू के सर चढ़ गयी थी जिसकी वजह से उसका पति भी उसे छोड़कर चले गये। दुलहन आने के बाद के दूसरे ही दिन सुबह गायत्री ने पूछा था कि पूजाघर कहाँ है? तब माताजी सोचती है कि- ''कुछ गलत हुआ शायद। इस घर में, और पूजाघर? जहाँ सिर्फ किताबें... यहाँ सिर्फ 'सत्य' निवास करता है। देखा नहीं फाटक पर लिखा है 'सत्यधाम'।''[15] यहाँ प्रोफेसर पाण्डेय केलिए सत्य ही ईश्वर है। वे कहते हैं- ''मैं

कहना यह चाहता हूँ कि भारतीय धर्मशास्त्र और लगभग सारे धर्मशास्त्र और बहुत हद तक दार्शनिक प्रणालियाँ भी तर्कातीत पर आधारित हैं। वे अमूर्तन की सृष्टि करती हैं। फिर उस मूर्तन केलिए तर्क। जो असत् है, जो है ही नहीं, जो न कुछ है उसकेलिए तर्क। और वह तर्क भी पूर्व-नियत। अन्धा। बस यह कि विश्वास करना है। जब विश्वास ही करना है तो तर्क केलिए जगह कहाँ।"[16] धार्मिक दार्शनिक प्रणालियों में तर्क केलिए कोई जगह नहीं है। यहाँ तत्सत पांडेय आस्था और धर्म के प्रश्नों को शंका से देख्रते हैं।

प्रोफेसर तत्सत पांडेय की अगली और पिछली दोनों पीढ़ियाँ पूरी तरह धर्म में विश्वास करती हैं। उपन्यास में, मिथकीय संसार में जीकर अपनी अंध श्रद्धा भक्ति के साथ आगे बढ़नेवाले लोग भी हैं, और मिथक को मात्र काल्पनिक कथाएँ माननेवाले लोग भी हैं। उपन्यास में एक ओर गायत्री है जो यह विश्वास करती है कि अमरीका में हनुमानजी की थापना करने से पूरा अमरीका शुद्ध हो जाएगा। वह अपने पति से कहती है- "तुम लोग मलाँव के पाँडे हो तो क्या, जो बेधरम हुआ वह चंडाल समान। जिस घर में देवता न बिराजें, जिस घर में छिः छिः... रोज़ मछरी-कालिया बने, जिस घर में जूते-चप्पल पहने लोग चहलकदमी करें, जहाँ संझा-आरती न हो जहाँ गायत्री मन्त्र का अपमान हो-वह घर है? वह मसान है मसान। और तुम लोग औघड हो औघड। इससे अच्छा होता कि ख्रप्पर लेकर घूमते।"[17] यहाँ धार्मिक पाख्रंड किस प्रकार इनसान की सोच को संकीर्ण बनाता है, इसका पूरा विवरण है। आश्चर्य की बात यह है कि इस वैज्ञानिक और तार्किक युग में भी लोग अंधविश्वास के ज़रिए अपने जीवन में सुधार लाने का प्रयास कर रहे हैं। गायत्री अपने बेटे की पढाई में रुचि नहीं रख्रती और बेटे की छह सात वर्ष के उम्र में ही पूरा हनुमानचालीसा पढाती

है। "गायत्री ने बेटे के मन में यह भरना शुरू किया कि परीच्छा में पढ़कर नहीं, हनुमानजी की भक्ति से पास होंगे। धीरे-धीरे रविकान्त को माँ के इस कथन में पूरी आस्था बन गई। अब उसे पढ़ने-लिखने में कोई रुचि नहीं रह गई।.. रविकान्त इमतहान के दिनों सुमिरन करता हुआ जाता और परीक्षा में बैठता। नतीजा लगातार फेल या किसी तरह पास।.. जब भी रविकान्त फेल होकर आता, गायत्री कहती कि उसकी भक्ति में कोई कमी है। .. दस बरस की उमर तक आते-आते रविकान्त ने पूजा का उत्तराधिकार अपनी माँ से ले लिया और उसे मुक्त कर दिया।"[18] यहाँ एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण हो रहा है जो बिल्कुल भक्ति और अंध आस्था के प्रति समर्पित हो और हर चीज़ को प्राप्त करने का साधन मात्र भक्ति समझते हो। लेकिन इसका बडा नकारात्मक प्रभाव ही हमारे समाज पर पड़ रहे हैं। विज्ञानविमुख, अतार्किक, धार्मिक कट्टर और भेदभाव वाली पीढ़ी का ही निर्माण हो रही है जो श्रम और कर्म की जगह अंध भक्ति से चीज़ों को प्राप्त करना चाहती है।

अंधेरे में समाधान खोजना और किसी चमत्कार की उम्मीद करना ऐसे लोगों का स्वभाव होता है। आस्थावादी तर्कों के बीच जीनेवाले समाज वास्तविकता का सामना करने से कतराते हैं। ऐसे समय में वास्तविक समस्याओं तथा उनके कारणों की पड़ताल संभव ही नहीं हो पाएगा। यथार्थ से उसका संबंध कट-सा जाता है। ऐसा समाज अपने सामाजिक लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में हमेशा चूक करता रहता है।

3.2.2 धर्म का मंडीकरण

जिस प्रकार समाज में अंध विश्वास फूल फल रहा है उसी के साथ लोग बाबाओं, मुल्लाओं, पंडितों और तांत्रिकों के पीछे भागते नज़र आते हैं। धर्म स्थलों

पर अनाचार हो रहे हैं। आजकल पंडितों, स्वामियों, बाबाओं, मुल्लाओं और पादरियों का व्यवसाय बन गया है कि धर्म की आड़ में जनता को डराकर स्वयं विलासिता का जीवन जीना। धर्म के नाम पर अंधविश्वास को फैलाकर आम जनता का शोषण करनेवाले ऐसे ढोंगी बाबाओं के इशारे पर लोग मरने मारने केलिए भी तैयार होते हैं।

'आखिरी कलाम' उपन्यास में दूधनाथसिंह ने अयोध्या की परंपरा का चित्रण सूक्ष्म रूप से किया है। लेखक अयोध्या को "धरम की मंडी"[19] की संज्ञा देते हैं। मंदिरों के आसपास दिनों दिन बढ़ता सदाबहार व्यापार इसका प्रमाण है। उपन्यास के गौणपात्र शिवगोपाल पंडित या स्वामी अचेतानन्द जैसे चरित्र हमारे समाज के भीतर से ही उपजे हैं। शिवगोपाल पंडित को चोरी करने पर गाँव से बाहर निकाल दिया गया था। फिर उसने गाँव के बाहर सुअरों के लोटने की जगह पर कीचड काँदों में हनुमान लला की एक छोटी-सी, मूर्ति लाकर स्थापित की। उसपर पहले एक चौकी, फिर मंदिर, मंदिर के बाहर अहाता और धीरे-धीरे एक पूरा मठ वहां अपने आप तैयार हो जाता है। अयोध्या की चर्चा केवल यहाँ एक प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है। सब कहीं धर्म का बाज़ारीकरण हम देख सकते हैं। सब कहीं ढ़ोंगी बाबाओं का मकडजाल बिछाया हुआ है। भगवान को छोड़कर इन ढोंगी बाबाओं, पोंगा-पंडितों को पूजने के प्रचलन बढ़ रहा है। पढे-लिखे लोग भी ऐसी मूर्खताएँ कर रहे हैं। अयोध्या के बारे में आचार्य जी कहते हैं- "किसी ढोंगी साधु की ठगी, उगाही, भिखमंगई, अनुदान, पूजापाठ, किंवदंती की कानाफूँसी से आनेवाले चढ़ावे, गुप्तदान से खडे किए गए अनेकानेक ऊटपटाँग ढाँचे। फिर इनके पीछे किसी कुपढ़ की दार्शनिक गढ़न्त। फिर धन की बढ़ोत्तरी के साथ मठ की शाखाओं का प्रसार। मिली

हुई माफी के ज़मीनें। या गरीब और बेसहारा, मूक जनता की ज़मीनों के ख़ित्तों को पुराने पटवारियों को खिला-पिलाकर ज़बरदस्ती कब्ज़ा की गई ज़मीनें। उनपर पलते मुस्टंडे, आवारा भेडिए। खून-खराबे, हत्याएँ, कोर्ट-कचहरी। यानी सबकुछ वैसा ही, जैसा ज़र-ज़मीन केलिए साधारण गृहस्थ लोग करते हैं। और ऊपर से उजड्डता और अज्ञान का चरम निदर्शन। यही हैं ये मन्दिरों के गुच्छे-दर-गुच्छे। जैसे आदमी इनमें नहीं रहते। सिर्फ धर्म, सिर्फ पूजा-आरती, सिर्फ रंग-बिरंगे कपडों में लिपटे हुए बौने भगवान। उसमें धोती-मिर्जई, रूईगर्दा पहने, सीरी गन्ध। उन्में धन्धा..."[20]

यहाँ बाज़ार लोगों की आस्था और भक्ति के साथ खेल रहा है। बाज़ार केलिए यह सर्वाधिक अनुकूल परिस्थिति होती है जिसमें बाज़ार को अपनी तरफ से कोई ख़ास व्यवस्थित उपक्रम करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। बाज़ार का सबसे सरल सिद्धांत है मुनाफा कमाना। धर्म आज बाज़ार बन गया है। धर्म से बड़ा और बाज़ार दूसरा कोई नहीं है। बाज़ार ने धर्म को इतना आकर्षक और बाज़ारू बना दिया है कि हमारे पढे-लिखे, युवा और शिक्षित समाज भी इसके सम्मोहन में सहज आकर्षक हो जाता है। दूसरी तरफ पूरे देश में बड़े-बड़े मंदिरों, मठों का व्यावसायीकरण हो रहे हैं। बड़े-बड़े मंदिरों में भगवान के दर्शन हेतु कई व्यवस्थाएँ उपलब्ध है। वीआईपियों की अलग श्रेणी, रकम की हिसाब के अलग श्रेणी और बिना पैसा के आम जनता केलिए घंडों भर खडे होकर भगवान का दर्शन करने की नौबत रहती है। इस प्रकार प्रसाद पाने का साधारण, विशिष्ट, अतिविशिष्ट तरीके, ईश्वर के विभिन्न रूपों और उनके अनुसार अलग-अलग मंदिरों की विशिष्टता की चेतना का दोहन बाज़ार अपने अनुकूल करता है। आज धर्म और आस्था के नाम पर पर्यटन, मनोरंजन और छुट्टियाँ बिताने की पूरी व्यवस्था हो रही है। जैसे अखिलेश के 'निर्वासन' उपन्यास

संपूर्णानंद बृहस्पति कहता है-"हमें उत्तर प्रदेश में हिंदू धर्म को बुनियाद बनाकर पर्यटन को विस्तार देना होगा... यह प्रदेश रामचंद्रजी, कृष्णजी और शिवजी तीन भगवानों का प्रदेश है लेकिन हम कहना चाहेंगे कि इस प्रदेश के पर्यटन को अन्य देवी देवताओं के माध्यम से भी विकसित किया जा सकता है। जैसे कि देवियों के नज़रिए से यहाँ पर अनेक ऐसी जगहें हैं जिनमें पर्यटन की अपार संभावनाएँ हैं।"[21] यहाँ धर्म, अध्यात्म और संस्कृति की दुहाई देकर सतयुग प्रोजेक्ट बनायी जाती है ताकि करोडों का लाभ मिल सके। धर्म, सत्ता और राजनीति के गठबंधन ही धर्म को बिकाऊ बना दिया है। इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने धर्म के बाज़ारीकरण का यथार्थ चित्रण अपने उपन्यासों में चित्रित किया है।

3.2.3 सांस्कृतिक प्रतीकों का दुरुपयोग

आज साम्प्रदायिक ताकतें सांस्कृतिक प्रतीकों का इस्तेमाल करके साम्प्रदायिक भावना या नफ़रत को फैला रही हैं। गंगा, गाय, गीता, राम, सेना, कुरान, रामचरित मानस जैसे प्रतीकों को इन्होंने शस्त्र बनाया है। ऐसे चिह्नों-चरित्रों, पुराणों और दंतकथाओं के माध्यम से वे वर्तमान को अनुशासित करने में लगी हुई हैं।

'आख़िरी कलाम' उपन्यास में रामचरित मानस का उपयोग भी इसी रणनीति का नतीजा है। इसका अर्थ बिल्कुल यह नहीं था कि किताब साम्प्रदायिक है। बल्कि प्रगतिशील ताकतों की ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है कि वह एक महान साहित्य को उन हाथों से मुक्त कराएँ जो उसका दुरुपयोग कर देती है। सचल ग्रामीण पुस्तकालय के उद्घाटन में आचार्यजी ने जो भाषण दिया था वह इस प्रकार है- "एक किताब तुम्हारे भीतर सदियों की जमी हुई काई को साफ़ करती है। वह तुम्हें चोट पहूँचाती

है। वह तुम्हारा वध करती है। वह तुम्हारे भीतर की हिंसा को पी लेती है। एक किताब तुम्हारी सारी ताकत को निचोड़ लेती है, तुम्हें नया जन्म देती है। तुम, जो बँधे हुए हो, तब मुक्त होते हो, तब मुक्त होते हो। तुम जो कोलाहल से धिरे हुए हो, एक किताब तुम्हें सन्नाटे में ले जाती है। एक किताब तुम्हारे शत्रु पैदा करती है। एक किताब तुम्हारे प्रेम और तुम्हारी मैत्री को क्षार-क्षार करती है। एक किताब तुम्हारे जानने को निरर्थ कर देती है। एक किताब तुम्हें चुप करती है, एक मौत के दरवाज़े पर छोड़ आती है। एक किताब तुम्हें शताब्दियों तक अन्धा बनाती है। किताबें यह सब करती हैं अतः किताबें शक पैदा करती हैं। किताबें हमारी अंतर्मेधा के समक्ष शक्त-प्रदर्शन हैं, युद्धाभ्यास हैं, जो अक्सर हमला बोल देती है। .. जो किताब तुम्हें जेहाद केलिए, धर्मयुद्ध केलिए उकसाए वह तुम्हारी दुश्मन है। जो किताब अपने को ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी कहे, जो परमतत्व की ओर इशारा करे वह किताब एक चुका हुआ विचार है।"[22] आचार्यजी का तात्पर्य यह था कि किताबें किन हाथों में है यह ज़्यादा महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह वाचकों सवाल करना सिखाती हैं। अगर गलत हाथों में पड़ जाए तो हिंसक भी बन जाती हैं। अगर आचार्यजी के शब्दों में सत्य ही ईश्वर है तो अल्लाह, राम, ईसा के नाम पर लड़ने की ज़रूरत नहीं है। उद्घाटन भाषण में आचार्यजी सत्य बोलते हैं। जो व्यक्ति सत्य को ईश्वर मानते हैं वही ऐसा भाषण दे सकते हैं। उनकेलिए सत्य कहना ही बड़ी पूजा है। उनका भाषण सच का बयान था। सत्य से आँखें मूँदकर जो लोग वहाँ बैठे थे, उनके सामने ही वे सत्य बोलते हैं। आज ज़माना ऐसा है कि जो लोग सत्य बोलते हैं उनका सत्यानाश कर देते हैं।

सांस्कृतिक चेतना ही एक समाज की गतिकी को निर्धारित करती है। समाज का विकास किस देश में होगा और उसकी मान्यताएँ, प्राथमिकताएँ और उस समाज

के मूल्य क्या होंगे, ये सब इसी सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से तैयार किया जाता है। यही कारण है कि कोई भी राजनीतिक दल सत्ता और सरकार कायम करती है तो वह सबसे पहले सांस्कृतिक चेतना के उन संस्थाओं पर काबिज होना चाहता है जहाँ से वहाँ इसका उत्पादन और संचालन कर सके। ग्राम्शी ने हेजिमनी के सिद्धांत के रूप में इसकी विस्तृत व्याख्या की है। शासक वर्ग अपने बुद्धिजीवियों के माध्यम से अपना सांस्कृतिक वर्चस्व और आधिपत्य कायम करता है और इसके लिए ज्ञान के उत्पादक स्रोतों जैसे, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय में अपने मुताबिक सिलेबस और कंटेंट तैयार करवाता है। आखिरी कलाम में आचार्यजी जब अयोध्या के एक दूकान में 'रामचालीसा' को देखने पर उन्होंने आश्चर्यचकित हो गया -

" 'रामचरितमानस' से काम नहीं चला?

'उसमें से गांधीजी वाला हिस्सा निकाल दिया गया है सर!' सर्वात्मन ने साथ चलते हुए कहा।

'किसमें से?' ....

'उसी भजन में से।'

'कौन-सा भजन?'

'रघुपति राघव राजाराम' में से।'

'कौन-सा हिस्सा?'

'ईश्वर अल्ला तेरे नाम...।'

'अब उस भजन की शुरआत यों हो रही है सर।'

रघुपति राघव राजाराम पतित पावन सीताराम।
जै रघुनन्दन जै घनश्याम, जानकी-वल्लभ सीताराम।"[23]

उपन्यास के इस अंश में अल्ला तेरो नाम को हटाने के पीछे भी सत्ता का यही मंशा काम करती है। हर सरकार यह काम सत्ता में आने के बाद करती है।

3.2.4 धार्मिक उन्माद

आज समाज में धार्मिक उन्माद और धार्मिक कट्टरवाद ने आम आदमी का जीना दूभर कर दिया है। स्व से ऊपर उठ जाने की नैतिक ताकत है धर्म। लेकिन कुछ संकीर्ण मानसिकतावाले लोगों के कारण ही धर्म उन्माद बदलते हैं। सांप्रदायिक ताकतें धर्म को सांस्कृतिक अभिमान में तब्दील कर देती हैं। राजसत्ता इसकेलिए ज़मीन और वातावरण तैयार करती है। धार्मिक उन्माद में अपने धर्म की श्रेष्ठता और दूसरों के प्रति निकृष्टता की भावना होती है। वर्तमान राजनीति यही भावना को फैलाकर उन्मादियों की भीड तैयार करती है और अपना राजनीतिक मक्सद को पूरा करती है। धर्म, जात, नस्ल और रंग की श्रेष्ठता का उन्माद बड़ी हिंसा का रूपधारण कर लेता है। श्रेष्ठता के उन्माद के कारण ही एक धर्म को माननेवाले लोग दूसरे धर्म को माननेवालों को शत्रु मानते हैं। धार्मिक उन्माद में वे कुछ भी करने केलिए तैयार हो जाते हैं। 'आख़िरी कलाम' में धार्मिक उन्मादियों का एक 'एक्सप्रेस' ही हम देख़ सकते हैं। जंक्शनों की ओर जानेवाले कारसेवक एक्सप्रेस की भीड़ वे लोगों को न केवल तंग करते हैं बल्कि उनको लूटने उनके साथ बदसलूकी करने और उनकी झोंपडियाँ जलाने आदि कार्यों को भी हीन ढंग से करते हैं।

'निर्वासन' के संपूर्णानंद बृहस्पति भी एक धार्मिक उन्मादी है। वह प्राचीन हिंदू धर्म को श्रेष्ठ बताकर वर्णाश्रम पर आधारित व्यवस्था को वापस लाना चाहता है। बाबरी मस्जिद विध्वंस में उसकी भूमिका को लेख़क इस प्रकार वर्णन करता है- ''कहा जाता है कि 6 दिसंबर 1992 को अयोध्या में वापसी मस्जिद के ढहाए जाने के

वक्त जब कोई बडे नेता और नेत्रियो जो बाद के दिनों में भारत सरकार में मंत्री बने थे, मंच माइक पर ज़ोर ज़ोर से नारे लगाकर वहाँ उपस्थित समुदाय का हौसला बढा रहे थे, उस वक्त संपूर्णानंद बृहस्पति भी वहाँ यही कार्य कर रहे थे। वह अपने पान मसाले के अनगिनत पाउच लेकर सुबह से ही वहाँ जम गये थे। एक पत्रकार ने अपने मित्रों को बताया था कि जब बाबरी मस्जिद नेस्तनाबूत कर दी गयी तब संपूर्णानंद जो उस समय सत्तर साल के आसपास थे, खडे होकर नाचने लगे थे। वह इतने भावावेश में आ गये थे कि कुछ न सूझा तो आडवाणी जी, मुरली मनोहर जोशी सरीखे वहाँ मौजूद नेताओं को पान मसाला के पाउच भेंट करने लगे थे।"[24] ऐसे धार्मिक उन्मादी ही साम्प्रदायिकता का विष फैलाते हैं। इस धर्मोन्माद केलिए राजसत्ता ही ज़मीन और वातावरण तैयार करती है।

3.2.5 साम्प्रदायिकता

आजकल साम्प्रदायिकता शब्द हर जगह गूँज रही है। हमारी इस दुनिया में कई तरह की साम्प्रदायिकता होती है। भाषा के नाम पर, देशों के नाम पर, देशों के नाम पर, वर्ण जाति के आधार पर साम्प्रदायिकता पनप रही है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक दंगे आज आम बात हो गयी है। ज़माना ऐसा बदल गया है कि धर्म के नाम पर बहुत आसानी से दंगा-फसाद किया जा सकता है। लोग मनुष्यता को भूलकर दूसरों के खून के प्यासे हो रहे हैं। भारत में साम्प्रदायिक दंगों का लंबा इतिहास है। ऐसी साम्प्रदायिकता अपना बीज डालकर नये-नये संघर्ष और समस्याओं का अंकुर बनते जा रहे हैं, जैसे विभाजन, विस्थापन आदि। इतिहासकार खाफी खाँ के विवरणों के अनुसार "भारत का पहला साम्प्रदायिक संघर्ष सन् 1713 में अहमदाबाद में हुआ था। वह दंगा हिन्दू और मुस्लिम पडोसी के बीच होलिका दहन

और गाय की कुर्बानी को लेकर हुआ था जिसमें कई लोग मारे गये थे।"[25] तबसे लोक आज भी गोवध जैसी बातें साम्प्रदायिक शक्तियों केलिए औजार बनाते जा रहे हैं।

साम्पदायिकता वास्तव में हमारी संस्कृति, सभ्यता और समन्वय को जड़ से मिटा देने की कोशिश करती है। धर्म और राजनीति के गठबंधन के कारण ही यह समस्या इतनी पराकाष्ट तक पहूँच गयी है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने भारत की साझी संस्कृति को मिटानेवाले धार्मिक राजनीतिक ताकतों के झूठे दावे को यही रूप से पहचाना है और अपनी रचनाओं में असहिष्णुता के खिलाफ आवाज़ उठाने की प्रेरणा भी दिया है।

'आखिरी कलाम' अयोध्या के बाबरी मस्जिद विध्वंस पर लिखा गया उपन्यास है। मानवता विरोधी दुदन्ति शक्तियों का तीव्र विरोध इस कृति में दर्ज हुआ है। धर्मों के उत्माद फैलाकर सत्ता हासिल करने की कोशिश साम्प्रदायिक दंगों में खतम होते हैं। राजनीति का भीड तंत्र ही उसमें शामिल होते हैं। सचल ग्रामीण पुस्तकालय के उद्घाटन के अवसर पर हुए दंगे, फिर आचार्य तत्सत पाण्डे का अयोध्या की रामजन्मभूमि में जाकर कारसेवकों के द्वारा हमला किया जाना, गहरी चोट पहूँचना, सर्वात्मन और बिल्लेश्वर द्वारा उन्हें जमील के घर ले आना, फिर मस्जिद को गिरवा देना, वहाँ के मुस्लिम समाज का डर के मारे विवश होकर भाग जाना, उनके घरों को आग लगाना आदि सब साम्प्रदायिक शक्तियों के करतूतों का प्रमाण है।

1992 का बाबरी विध्वंस एक ऐसी घटना थी जिसने हिन्दुस्तान की साझी संस्कृति को बुरी तरह से प्रभावित किया। वह हमारे साम्प्रदायिक सौहार्द को तोड़ने

की साज़िश थी। वहाँ साम्प्रदायिक उन्माद ही कायम किया गया था जिसके चलते भीड़ ने मस्जिद को गिराया।

3.2.6 मीडिया का दुरुपयोग

आज पत्रकारिता भी अपने मूल्यों को खो बैठी है। जिसे हम लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहते हैं, कभी-कभी वह लोकतांत्रिक मूल्यों को नष्ट करने में अपना हाथ दे रहा है। अख़बारों का वास्तविक धर्म शिक्षा देना, लोगों से संकीर्णता हटाना, परस्पर मेल-मिलाप बढ़ाना और भारत की साझी संस्कृति को बनाया रखना आदि हैं। लेकिन आजकल पत्रकारिता अपने पत्रधर्मिता से विचलित होकर अज्ञानता फैलाना, संकीर्णता का प्रचार करना, साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देना, लोगों को समझाने की जगह भड़काना, भारत की साझी संस्कृति को नष्ट करना आदि में बदल दिया है। याने कि रेटिंग बढाने की दृष्टि से किसी भी गिरी हरकत करने केलिए तैयार हो जाते हैं।

'आख़िरी कलाम' उपन्यास में आचार्यजी के भाषण को किस प्रकार अख़बारों ने अपनी मनमानी ढंग से प्रकाशित किया उसकी ओर भी लेखक इशारा-करता है- ''शीर्षक और समाचार के विरूपण अलग-अलग थे। संवाददाताओं और एजेन्सियों ने अपने हाथ दिखाए थे। उनमें उस घटना की उनकी निजी और कमाल की व्याख्याएँ थीं। चौंकाऊ और कई बार बेबुनियाद, जो मनगढ़न्त की सीमा तक जाती थीं। उनमें मनमानापन था। उनमें अर्थ का अनर्थ की भरपूर गुंजाइश थी। .. आप कोई भी अख़बार उठाकर देखिए, एक ही समाचार कई अलग-अलग चमकती सुर्खियों में छपा होगा। कैप्शन लगाने की यही तो कला है! उनकी भाषा और व्याख्याएँ और संकेत भी अलग-अलग और नितांत 'मौलिक' होंगे।.. दरअसल

अख़बारनवीसी का नियम ही निराला है। एक अख़बार गुत्थियों दर-गुत्थियों का एक पुलिन्दा होता है। कोई घराना, कोई सम्पादक, कोई संवाददाता, यहाँ तक कि पाली में मेज़ पर बैठा हुआ कोई उपसम्पादक भी जहाँ चाहे वहाँ किसी घटित को तोड़-मरोड़ देते हैं। उसपर अपना रंग, या कहिए अपनी व्याख्याएँ मढ़ देते हैं। तथ्यों के साथ यह एक कुत्सित व्यवहार है और इसी कुत्सा के भीतर से सुबह का चमचमाता अख़बार स्टालों पर सजा हुआ मिलता है। घटित के साथ यह मनमानापन ही एक अख़बार की 'विचारधारा' होती है, उसका दर्शन होता है।"[26]

'सचल ग्रामीण पुस्तकालय' के उद्घाटन अवसर पर वहाँ एक दो संवाददाताओं को छोड़कर कोई तथाकथित कार्यालय संवाददाता मौजूद नहीं था, कोई भी एजेन्सी उपस्थिति नहीं थी। लेकिन आचार्यजी के उद्घाटन भाषण और उसके बाद कारसेवकों का अत्याचार का विवरण किस प्रकार अख़बारों ने अपनी मनमौजी तरीकों से प्रस्तुत किया उसे लेख़क ने नौ अख़बारों में छपकर आये ख़बर के साथ प्रस्तुत किया। हर शीर्षक के नीचे 'कार्यालय संवाददाता','संवाददाता' या 'एजेन्सियाँ' लिख़ा था। यह एक सर्वप्रचलित गढी हुई अख़बारी तकनीक है जिसे हर अख़बार अपनी विश्वसनीयता बना रख़ने केलिए करता है। लेकिन ये लोग गप्पों अफ्वाहों के बीच से ख़बर को गढ़ लेते हैं। पत्रकारिता का यह अन्याय ज्ञान प्रदान करने की अपने धर्म से विचलित होने का उदाहरण है। वे गलत सूचना देकर आम लोगों को भ्रमित करते हैं और भटकते हैं। अख़बारों या मीडिया का इस्तेमाल सांप्रदायिकता एवं क्षेत्रवाद के हित में हो रहा है। मीडिया किस प्रकार सांप्रदायिक ताकतों के हित में काम करके लोगों को भटकाया जा रहा है इसका उदाहरण

दूधनाथसिंह ने बड़ी गहराई से प्रस्तुत किया है और उन्होंने पत्रकारिता को नये सिरे से पुनर्गठित करने की ज़रूरत पर भी बल दिया है।

3.3 राजनीतिक आयाम

राजनीति राज चलाने की नीति होती है। मानक हिन्दी कोश में राजनीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए रामचंद्र वर्मा ने लिखा है कि- ''राजनीति वह नीति या पद्धति है जिसके अनुसार किसी राज्य का प्रशासन किया जाता है।''[27] श्री गोविन्द चंद्र पांडेय ने लिखा है कि- ''अराजकता का विरोध कर कानूनी व्यवस्था को बनाए रखना और उसकेलिए शक्ति संग्रह करना, यह पहला राजनीतिक मूल्य है। व्यवस्था को धर्मानुरूप बनाना और सुधारना यह दूसरा राजनीतिक मूल्य है।''[28] राज्य को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करने केलिए जो आदर्श कानून बनाये जाते हैं, उन्हें राजनीतिक मूल्य से अभिहित किया जा सकता है। किसी भी देश में जहाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था है वहाँ राजनीति सबसे महत्वपूर्ण औजार होती है समाज में अपनी बात रखने की। समाज में परिवर्तन लाने में राजनीति का बडा योगदान होता है। न्याय, समानता, समरस विकास जैसे मूल्य राजनीति द्वारा ही संभव है। आज राजनीति अपनी लोककल्याणकारी भूमिका से पीछे हट रही है। अवसरवादी राजनीति, जाति-आधारित राजनीति, साम्प्रदायिक राजनीति, राजनीति में गुण्डागर्दी, असमानता, राजनैतिक दलों का अनैतिक आचरण आदि राजनीतिक मूल्यों को कलंकित करनेवाले तत्व है।

3.3.1 अवसरवादी राजनीति

वर्तमान समय अवसरवादिता का समय है। हर व्यक्ति अपने हितों केलिए हमेशा प्रतिबद्ध रहते हैं। राजनेता जनता को अपनी बातों से बहला फुसलाकर

अपनी अवसरवादिता का परिचय देता है। जनकल्याण के बारे में लंबे भाषण दे सकते हैं। लेकिन सिर्फ प्रदर्शन केलिए। बृजेश शुक्ल के उपन्यास 'मंडी' में मुख्यमंत्री श्रीधर बाबू के बारे में लेखक लिखता है- "श्रीधर बाबू वह सेनानी हैं जो युद्ध के मैदान में भी अपने कदम पीछे हटाने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। वो अहंकार की लडाई कभी नहीं लड़ते। उनका विश्वास है कि अपने-अपने अहंकार के कारण एक-दूसरे से टकरानेवाले दुनिया के सबसे बडें मूर्ख हैं। चतुर सेनानी तो अवसर देखकर कदम बढ़ाता है।"[29] लेखक खुद एक राजनैतिक संवाददाता होने के कारण राजनीति में चले जानेवाले दाँव-पेंच में सत्ता पाने व बचाये रखने की रणनीति को अपनी आँखों से देखी है। उन्होंने पूरे उपन्यास में अवसरवादी राजनीति का पर्दाफाश किया है। उपन्यास में लेखक ने जो चरित्र गढ़े हैं, जिन स्थितियों और घटनाओं का चित्रण किया है, वह आज की राजनीति का सच्चा चित्रण है। चाहे वह चरित्र श्रीधर बाबू का हो अथवा चौधरी साहब का, आज की राजनीति के किसी भी चरित्र से मेल खाता हुआ मिल जाएगा। हू-ब-हू भले ही उसकी नाम परिवर्तित हो गया है।

उपन्यास में एक मंत्री जाहिद भाई के बेटे को अपने कार में नशीले पदार्थों के साथ पकडा जाता है। दूसरे दिन ही विपक्षी दल जाहिद भाई के खिलाफ उन मुकदमों की सूची ज़ारी कर देते हैं, जो उनपर दर्ज थे। सभी मुकदमे 'नारकोटिक एक्ट' के तहत है। इन मुकदमों से साफ लगता था कि मादक द्रव्यों की तस्करी और जाहिद भाई के बीच का पुराना रिश्ता है। कई बार वह दिल्ली में पकड़े गये थे। उनकी भी गाडी से चरस और गाँजा बरामद हुआ था। बाद में ही वह विधायक बना था फिर तिकड़म करके मंत्री। इसी मामले में मुख्य मंत्री और जाहिद भाई मिलकर उनके इस्तीफा की झूठी पेशकश करता है। जनता के सामने दोनों नाटक करते हैं।

मुख्यंमत्री की योजना इस प्रकार था- ''प्रेसवालों को बुलवाये ले रहा हूँ। तुम यही कहता कि मैं निर्दोष हूँ, लेकिन नैतिकता के नाते इस्तीफा दे रहा हूँ। मैं तुमसे बार-बार अनुरोध करुँगा कि इस्तीफा न दो। मैं पत्रकारों से कहूँगा यह नहीं मान रहे हैं। मैं ने तो जाँच करवा ली है जाहिद बिल्कुल निर्दोष हैं। मैं फिर इनसे कह रहा हूँ कि यह इस्तीफा न दें। इसी बीच तुम हाथ जोड़के खडे हो जाना कि मुख्य मंत्री जी आप मेरा इस्तीफा फिलहाल स्वीकार कर लीजिए। आप पहले जाँच करवा लें, मैं जब तक बिल्कुल निर्दोष साबित न हो जाउँ तब तक इस पद पर नहीं रहना चाहता। इसके बाद मैं एक उच्च स्तरीय जाँच की घोषणा कर दूँगा। उसका समय पंद्रह दिन तय कर दूँगा।''[30] प्रेस कोन्फ्रेंस में वही नाटक दोहराया गया जो पहले से तय था। अंत में मुख्य मंत्री ने घोषणा कर दी कि इस मामले में उच्च स्तरीय कमेटी 15 दिन के अंदर अपनी रिपोर्ट देगी।

इस प्रकार नेता गण अवसरानुसार अभिनय करके जनता को उल्लू बनाने का काम करते हैं। फिर विधायक निवास में हुई शैलजा हत्याकांड में विपक्ष के विधायक गुनाहकार साबित हुआ। नेता विपक्ष मुख्य मंत्री के पास आकर उनकी पार्टी की बदनामी होने से बचाने को कहा। ''आखिरकार दोनों में सौदे की बातें चलने लगीं। यह तय हुआ कि मुख्य मंत्री तस्करी के मामले में लिप्त जाहिद भाई को फिर से मंत्री बना देंगे। उसकी रिपोर्ट वह जल्द ही मँगवा लेंगे। इस रिपोर्ट में मंत्री को बेदाग बताया जाएगा। नेता विपक्ष व उनकी पार्टी इस मुद्दे को या तो बिल्कुल नहीं उठाएगी या दो-तीन बयान देकर ठंडे बस्ते में डाल देगी।''[31]

इस प्रकार राजनीतिक दलों के बीच समझौतावादी हरकतें अकसर देखने को मिलती है। जनता को उल्लू बनाकर किसी भी राजनीतिक दल के जो भी कर्मी चाहे

सत्ताधारी हो या विपक्षी हो जब कभी भी किसी प्रकार के गुनाह में फँस जाते हैं तो राजनीतिक दायरा वहाँ मिट जाती है और ऐसी समझौतापूर्ण साज़िश की कारवाई करते हैं कि आस्तानी से वह अपराधी गुनाह से छूट सके। इसीलिए वे हमेशा अवसरवादी रणनीति अपनाते हैं।

3.3.2 जाति आधारित राजनीति

भारत में जाति का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही लंबा इतिहास इससे मुक्ति पाने की छटपटाहट का भी है। इसके बावजूद भी यह हर समय, हर समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। वर्तमान राजनीति जाति के नाम पर सामाजिक ध्रुवीकरण को बढ़ावा दे रही है। राजनीतिज्ञों केलिए जनसाधारण की कीमत एक अदद वोट तक सीमित होती है। उस वोट को अपने पक्ष में करने केलिए वे तरह-तरह के उपक्रम करते रहते हैं, जिसमें जाति भी एक है। जातिवाद पर कटु आलोचना करनेवाले नेतागण चुनाव के समय पर उसी जातिवाद का चोला ओढ़कर अपनी रणनीति तैयार करती है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार इस ज्वलंत समस्या को भी अपने उपन्यासों में उजागर करते हैं।

आख़िरी कलाम में एक युवा नेता कहता है- ‘‘पहले जो कॉमरेडस थे, उनमें बहुत सारे अपनी जातियों के मूर्द्धन्य नेता है। और फिर जाति के नेतृत्व के नाम पर दुनिया भर के लुच्चे-लफंगे, विचारहीन, अवसरवादी, विधानसभाओं और संसद में आ बैठे हैं। और जनता इसीसे ख़ुश है कि चलो, भला आदमी न हुआ तो क्या, अपनी जाति का तो है। दुनिया का सबसे बडा प्रजातंत्र जातिवादी सरगनाओं का अखाड़ा है और चाहे सर्वहारा हो या उच्चकोटि के वैज्ञानिक- सब उसके जरख़रीद

गुलाम। मूर्ख्रता की एक उजड्ड दृश्यावली है, जिसे संसदीय बहस कहते हैं और देश-विदेश के विद्वानों और व्याख्याकारों को हमारी इस संसद धर्मिता पर गर्व है।"[32]

राजनीति में जाति के प्रयोग का नकारात्मक प्रभाव ही दिखाई देते हैं। जब भी चुनाव का माहौल आता है तब जातिगत राजनीति हावी होती है। राजनीति अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति केलिए बिना योग्यता के उम्मीदवार को भी चुनते हैं। सिर्फ जाति की दृष्टि से वोट बैंक के तहत बिना योग्य के लुच्चे-लफंगे, यहाँ तक हत्यारों, लुटेरों, बलात्कारियों, जेबकतरों व दलालों को भी लोकतंत्र के मंदिर में बिठाते हैं।

3.3.3 साम्प्रदायिक राजनीति

बीसवीं सदी के अंतिम चरण में देश की राजनीति का एक पक्ष बन गया सम्प्रदायवाद। साम्प्रदायिक राजनीति नफ़रत फैलाने का काम करती है। आजकल लोकतांत्रिक राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद का रूप धारण कर रहा है। लोकतांत्रिक मूल्यों को रौंदा जा रहा है। सब कहीं असहिष्णुता की राजनीति का बोलबाला है। असल में साम्प्रदायिक राजनीति का मकसद लोकतांत्रिक दायरे को खतम करना है। यह दूसरों से नफ़रत पैदा करने का प्रचार करती है।

दूधनाथ सिंह ने 'आख़िरी कलाम' उपन्यास में साम्प्रदायिक राजनीति का पर्दाफाश किया है। सम्प्रदायवाद ने राम को अपना राजनीतिक प्रतीक बनाया। उपन्यास में साम्प्रदायिक उन्माद और धर्मतांत्रिक राजनीतिक के प्रभाव से फैले आतंक को विषय बनाया है। उपन्यास में नेताओं की क्रूर नीतियों का वर्णन है जो कारसेवकों को भड़काकर बहुत बडे जनसमुदाय को वोट बैंक में बदलना चाहते हैं। 'ललकार

दिवस' के दिन एक आदमी उन्मादी कारसेवकों को नियंत्रित करने का प्रयास करता है तभी भीड में एक व्यक्ति दूसरों को पीछे धकेलता हुआ कहता है-"अरे हट, अभी तो हम 'पावर' में हैं। अगर अभी नहीं तो फिर कब? कल को 'पावर' चला जाएगा तो सारी रथयात्रा, सारी कारसेवा धुरी रह जाएगी। अरे तू किसके ऑर्डर से गऊ बना शास्तर बख्रान रहा है.. हट। फिर वह आएगा वह मुल्ला हरामज़ादा.. तब तू अपनी पूँछ को वहाँ छिपाए पिछवारे होगा, और हम लोग.. हम लोग.. जैसे पिछले साल, पिछले साल.. इस बार तेरी 'राम की पैडी' लाल हो जाएगी।"[33] दूसरे शब्दों मे जो लोग आम लोगों को लूटते हैं, तंग करते हैं उन्हें रोकने के बजाय राजनीति शह देती है ताकि उनकी आड में वे अनुचित कार्य को भी बेहिचक पूरा कर सकें। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से सत्ताधारी लोगों की स्वार्थ नीतियाँ ही काम कर रही है। आचार्यजी कहते हैं- "उन सारी राजनीतिक पार्टियों ने जो इस भेडियाधसान को रोक नहीं रहे, उन्होंने अपना दावा खो दिया है... उन्होंने जनता पर से अपना नैतिक दावा खत्म कर लिया है। चाहे वे जो भी कहें, जो भी तर्क दें, अपनी जो भी मजबूरियाँ बताएँ, इसका जो भी विश्लेषण करें... जो भी, उनका कोई हक नहीं बनता अब। सब झुट्ठे और मक्कार और मिले हुए। सब हिन्दू। सब केवल हिन्दू। सब बर्बर।"[34]

अयोध्या में कर्फ़्यू लगाया था। लेकिन सडक पर हज़ारों लोग 'जैश्रीराम' के नारे लगाते हुए चले जाते हैं। इस प्रकार धर्म के साथ जब राजनीति जुडती है, तब वहाँ अलगाव, असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता का विष भयानक रूप में फैल जाते हैं। इस प्रकार मंदिर-मस्जिद की राजनीति आम लोगों का जीवन दूभर कर देती है।

3.3.4 क्षेत्रवाद

राजनीति में क्षेत्रवाद से तात्पर्य है अपने क्षेत्र का पक्ष लेना। लेकिन राजनीति का क्षेत्रवाद अब कुछ और हो गया है। अपने क्षेत्र के विकास लक्ष्य करके पूर्णतः अंधात्मक नीति अपनाने की प्रणाली आजकल देखी जा रही है। अपराधों से बचने और बचाने केलिए आजकल राजनीतिक दल एवं नेतागण क्षेत्रवाद का इस्तेमाल करते हैं। और ये ही नहीं अपने क्षेत्र के धातु संपत्ति का उपयोग अपने क्षेत्र तक सीमित रखने की कूटनीति भी अपनाते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप राज्यों के बीच जो अखंडता की भावना सदियों से भारत में देखी जाती थी आजकल विरुद्ध होती जा रही है। राज्यों के बीच बहनेवाले नदी और पानी को लेकर आपस में कानूनी युद्ध भी ज़ारी है। इस प्रकार क्षेत्रवाद मानव को मानव के खिलाफ लडने को बाध्य कर देते हैं।

'मंडी'उपन्यास में मंत्री जाहिद भाई के बेटे को अपने गाडी हेरोइन के साथ पकडा गया था। प्रेस कान्फ्रेंस में मुख्य मंत्री और पिता मंत्री ने 'गाडी चोरी हो गयी थी' बहाना बनाके मना किया। तब पत्रकारों ने पूछा कि आखिर चोरी की रिपोर्ट क्यों नहीं दर्ज कराई गई। मुख्य मंत्री ने इन सारे प्रश्नों से परेशान होकर अन्त में क्षेत्रवाद का सहारा लिया। वे बोले- ''तुम लोग उत्तर भारत के हो, कोई यू.पी.का होगा, कोई बिहार का होगा, अपने ही क्षेत्र की बदनामी करा रही हो। अरे हम सफाई दें, उससे पहले तुम्हीं सबको सफाई देनी चाहिए।''[35] क्षेत्रवाद को एक सुरक्षा कवच के रूप में उपयोग करके क्षेत्र को बदनामी से बचाना उस क्षेत्रवासी का प्रथम और परम धर्म है। इस नाते चाहे पत्रकार हो या सामाजिक प्रतिबद्ध किसी भी

प्रतिनिधि क्यों न हो, क्षेत्रवाद को प्राथमिकता देकर अपराध को गौण मानना उसका दायित्व है। राजनीति ऐसी क्षेत्रवाद को एक हथियार के रूप में उपयोग करते हैं।

3.3.5 विकास और भ्रष्टाचार

आज की राजनीति मोटे तौर पर दो लोकप्रिय मुहावरों के साथ आगे बढ़ती है- विकास और भ्रष्टाचार। सब लोग विकास की मंज़िलें पार करना चाहते हैं। विकास का स्वरूप कैसा हो, इसके बारे में कोई नहीं सोचते। 'निर्वासन' उपन्यास में धर्म, सत्ता और राजनीति के गठजोड किस प्रकार एक-दूसरे को पोषक और संवर्द्धक बनकर विकास के नये मॉडेल प्रस्तुत कर रहे हैं, इसका चित्रण है। संपूर्णानंद बृहस्पति 'मुक्तिपथ योजना' सतयुग योजना में बदलकर धन की लूट करने को आतुर रहता है। उसकी योजनाओं और कार्यक्रम के पीछे एकमात्र उद्देश्य होता है पूँजी की बढोत्तरी। वह पर्यटन की तरक्की केलिए देश-विदेशी लोगों को आकृष्ट करने केलिए धर्म, अध्यात्म और चमत्कार के नाम पर 14000 करोड़ रुपये की योजना का प्रस्ताव रखता है।

'मंडी' में विधायक लोग विधायक निधि के पैसे किस तरह के कार्यों केलिए ख़र्च करते हैं इसका बेहद चौंकानेवाले उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। एक विधायक अपने ही मकान को भव्य महल में बदल डालता है। देवेंद्र के बाबा स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। उन्हीं के नाम देकर अपने घर को आलीशन बंगला में बदल देता है। यह जानकर दूसरे विधायक मनोहर बेचैन हो जाता है। वह सोचता है- ''एक बार विचार आया कि हम भी अपने पिता के नाम पर एक संस्था बनाकर इस मकान को संस्थान में बदल देंगे। लेकिन बात कुछ जँची नहीं। पिता तो चंबल के डकैत थे।

पुलिस जिंदा या मुर्दा पकड़ने केलिए काफी दिनों तक परेशान रही। फिर एक विचार मन में आया कि पिता चंबल के डकैत ज़रूर थे, लेकिन करते तो गरीबों की मदद ही थे। फिर सोचा कि लोग क्या कहेंगे अपने डकैत बाप के नाम पर एक संस्था बनाकर विधायक निधि का पूरा पैसा उसी में लगा दिया, बदनामी होगी जो ठीक नहीं है।"[36] अंत में वह अपनी पत्नी की जीवन की पहली सुझाव मानते हुए यह निर्णय लेता है कि मकान उसके ससुरजी के नाम होगा जो स्वतंत्रता संग्राम सेनानी था।

इस प्रकार विकास को भ्रष्टाचार के ज़रिये राजनीति के लोग धनार्जन का मार्ग बनाता है। जनता को प्रतीत होता है कि विकास के नाम पर किये जानेवाले ये सारी योजनाएँ आख़िर उनकी भलाई केलिए किये जा रहे हैं जबकि हकीकत राजनीतिक नेताओं के जेब भरने का साज़िश भरी योजनाएँ ही हैं।

3.3.6 राजनीति में स्त्री

तैंतीस प्रतिशात आरक्षण की घोषणा होने के बावजूद भी इसे अमल में लाना किसी भ राजनैतिक दल या दल के नेताओं द्वारा मुमकिन नहीं हो पाया है। इसका मतलब है सदियों पुरानी पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था को भंग करना वर्तमान अभिजात शिक्षित राजनीतिक दल भी नहीं चाहते हैं। सत्ताधारी और विपक्षीय दोनों दल राजनीति में स्त्री की प्रतिभागिता के खिलाफ है। इस मामले में दोनों दल एक साथ गले मिलकर चुप्पी साध लेते हैं और स्त्री को मक्सद पर पहूँचने की सीढ़ी मात्र बनाकर रखना चाहते हैं। प्रत्येक राजनैतिक दल में यही प्रणाली अपनाती हुई दिखाई देते हैं जिसके ज्वलंत उदाहरण 'मंडी' और 'गिलिगडु' में देख सकते हैं।

'मंडी' मे मंत्री आरडी के रखैल परतिया जब चुनाव लडने तय करती है तब एक दुर्घटना में उसकी मौत हो जाती है। वास्तव में वह उसकी मौत के पीछे आरडी के हाथ थे। आरडी के घोर विरोधी दल परतिया का साथ दे रहे थे, इसीलिए वह मारा गया ।

'गिलिगडु' उपन्यास में कानपुर में होनेवाले चुनाव में राजनीतिक दल सुनगुनिया को मोहरा बनाकर चुनाव लडवाता है। जात-पाँत के नाम पर और स्त्री के आरक्षण के नाम पर यह कार्य करते हैं। जात-पाँत के नाम पर वैमनस्य की भावना बढाकर सवर्णों के खिलाफ पिछडों को भडकाया जाता है। सुनगुनिया अनपढ़ है, लेकिन इतनी मूर्ख नहीं कि राजनीतिज्ञों की गूढ लक्ष्य को न समझ सके। बेसहारा और अभावों में जीवन व्यतीत करनेवालों चुनाव के दिनों में अपनों जैसा व्यवहार करते हैं। लेकिन सुनगुनिया जानती है कि-"बेसहारों के अभावों को घात लगाकर भुनानेवाले राजनीतिज्ञों के प्रलोभनों की वास्तविकता से सुनगुनिया अपरिचित नहीं। जाति-बिरादरी की आड़ ले वोट बटोरनेवाले अहेरी दरअसल उनकी नींद-उडी आँखों को चैन का सपना दिखाकर उनकी आँखों में अपने सपनों की फसल बो सींच रहे।"[37]

3.4 आर्थिक आयाम

वर्तमान युग आर्थिक युग है। अर्थ प्रधान होने के कारण इस युग में अर्थ (धन) का महत्व सर्वाधिक हो गया है। मानव जीवन में अर्थ के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। यह हमारे जीवन की आवश्यकता है। इसके द्वारा ही हमारा जीवन सुख-सम्पन्नता से व्यतीत होता है। आज के भौतिकवादी, बाज़ारवादी, व्यवसायवादी, यांत्रिकी युग में मनुष्य का ध्यान अपने वास्तविक लक्ष्य से हट गया है। यह आज

पुरुषार्थ चातुष्ट्य के चारों तत्वों में से सर्वाधिक प्रभावशाली बन गया है। आज संसार का प्रत्येक कार्य धन द्वारा ही संभव है। इतना ही नहीं आज हमारे समाज में अमीर वर्ग को सम्मान की दृष्टि से और गरीब को अपमान की दृष्टि से देखा जाता है। वर्तमान लोकतंत्र में आर्थिक व्यवस्था आदर्श नहीं है। अर्थ का वितरण प्रत्येक क्षेत्र में असमान है जिससे समाज में दूरियाँ बढ़ रही है। आज हमारे जीवन में आर्थिक भ्रष्टाचार एक ऐसा कलंक है जिसकी वजह से चाहे अनचाहे हर व्यक्ति अनैतिक आचरण करने पर विवश हो जाता है। विकास योजनाओं के नाम पर भ्रष्टाचार ही भ्रष्टाचार है जिसके कारण किसान, मज़दूर और श्रमिक वर्ग हमेशा केलिए हाशियेकृत होते जा रहे हैं। उनकी गरीबी और बदहाली बढ़ती ही रहती है।

3.4.1 आर्थिक उदारीकरण और किसान

"उदारीकृत समाज का लक्ष्य है देश के भीतर और देश के बाहर के सभी उद्योगों के बीच प्रतिस्पर्धा के आडे आनेवाले सभी अवरोधों को पूरी तरह समाप्त कर देना। फिलहाल अतंर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और औद्योगिक देशों की ओर से गैर-औद्योगिक देशों की उदारीकरण प्रक्रिया को और तेज करने का जो उपदेश रोज़ दिया जा रहा है, उसका असली उद्देश्य यही है।"[38]

पिछले कुछ दशकों से किसान आत्महत्या बडी चिंता का सबब बनी है। राज्य के पूँजी केंद्रित होते जाने और राज्य अपनी कल्याणकारी भूमिका से पीछे हटते जाने आदि ने ही इसकी पीठिका तैयार की है। भारत की आर्थिक सुधारों की नीतियाँ किसानों, मज़दूरों की गरीबी को ध्यान में रखकर नहीं बनायी गयी थीं। वे सिर्फ विदेशी पूँजी और विदेशी तकनीकों पर आधारित हैं।

देश में सुधार, देश की आवश्यकताओं के अनुकूल न होकर विदेशी निवेशक अपनी आवश्यकताओं और अपने लाभ की पूर्ति केलिए आर्थिक नीतियाँ चलाती हैं। बडे-बडे कॉरपरोटों को खुली छूट देकर हमारी मुख्य उत्पादक शक्ति को अपनी मिट्टी से मिटाया जा रहा है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के शासक साम्राज्यवादी शक्तियों के इशारे पर ही आर्थिक नीतियाँ चलाती हैं। 'हलफनामे' उपन्यास में सुदर्शन कहता है- "किसान जब आत्महत्या करता है तो वह ज़िन्दगी और मौत के बीच अवसादपूर्ण चुनाव नहीं है, बल्कि ज़िन्दगी केलिए संघर्ष की आज़ादी का लोप है। मौत का चुनाव किसान नहीं करता बल्कि तन्त्र उसका जीने का अधिकार छीन लेता है।"[39] किसान आत्महत्या वास्तव में आत्महत्या नहीं बल्कि स्टेट द्वारा की गयी हत्या है।

सरकारें बदल जाती हैं लेकिन किसानों की समस्याएँ ज्यों की त्यों रहती हैं। फसल की बर्बादी और ऋणों का बोझ किसानों को आत्महत्या के दहलीज पर पहूँचा देते हैं। 'हलफनामे' उपन्यास में स्वामीराम आँध्रप्रदेश का एक किसान था जो दो बार बेहतरीन काश्तकार का इनाम पाया था। लेकिन सूखे की वजह से बारेवैल लगाने केलिए अन्य किसानों की तरह स्वामीराम को भी वहाँ के प्रमुख लाला से पैसा कर्ज लेना पडा। उसके गाँव को डार्क एरिया घोषित किया था इसीलिए बोरवैल केलिए सरकार से कर्ज मिलना नामुमकिन था। इस अवसर पर लाला महकमे से मिलीभगत करके बोरिंग का धन्धा शुरू कर दिया। इसपर छोटा किसान तमाम कर्ज में डूब गए।

किसानों की ज़िन्दगी को और नरक में डालनेवाले जी.एम कपास की खेती के बारे में भी उपन्यास में ज़िक्र है। कुछ साल पहले भारत सरकार ने जी.एम खाद्य

फसलों के फील्ड ट्रायल पर लगी रोक को हटा दिया था, जिससे स्पष्ट है कि सरकार खेती के क्षेत्र में तकनीक के इस्तेमाल पर ज़ोर दे रही है। लेकिन उन फसलों से होनेवाले नुक्सान के बारे में कोई नहीं सोचते। यह देश कृषि प्रधान होने के बावजूद भी इस देश की नीति नियंताओं के पास किसानों केलिए, उनकी ज़िन्दगी बचाने केलिए कोई प्रयास नहीं है। सारी योजनाएँ, सारे वादे चुनावी जुमले भर रह जाते हैं।

3.4.2 आर्थिक उदारीकरण: शिक्षा पर प्रभाव

उदारीकरण के फलस्वरूप सरकार द्वारा अनेक कॉलेजों और शैक्षिक संस्थाओं केलिए स्वायत्त रूप में संचालन की अनुमति देती है जिसके फलस्वरूप राज्य के कोने-कोने में मशरूम की तरह अनेक शैक्षिक संस्थाएँ उग आये। इन संस्थाओं में अधिकांशतः गुणवत्ताहीन पाठ्यक्रम, बेहतर शैक्षिक वातावरण की कमी, अनुभवी अध्यापकगणों का अभाव, प्रवेश दान देकर भर्ती लेने वाले अयोग्य छात्रों की उपस्थिति आदि के परिणाम स्वरूप समाज केलिए बिल्कुल अयोग्य और उपयोगहीन पीढ़ी का निर्माण हो रही है जिनका समाज केलिए, न राष्ट्र केलिए उपयोग नहीं है बल्कि मात्र बेरोज़गारी के कारण कुण्ठित युवा अनेक कुकर्मों में फँस जाते हैं। मनोजसिंह के 'होस्टल के पन्नों से' में लेखक कहते हैं- "जब हज़ारों छात्र बेवकूफ बनते हैं तो देखकर दुःख होता है। ... गधे-घोडे सबको डिग्री दे दी... पढ़े-लिखे बेरोज़गारों की लंबी फौज खडी कर रहे हैं... उनमें असंतोष भडकेगा तो उसका फायदा भी यही उठाएँगे... असल में सभी इंजीनियर, डाक्टर बनाना चाहते हैं। सबको, मोबाइल, माल और मस्ती चाहिए- सपने चाहिए.. रोक के देखो.. आपको एक भी साथ खडा नहीं मिलेगा... ।"[40]

3.4.3 भ्रष्टाचार

आज हमारे देश में भूख, प्यास और कुपोषण से मौत हो रहे हैं। सत्ता द्वारा रोज़ नयी-नयी योजनाएँ, नयी-नयी पद्धतियाँ लागू होती हैं। लेकिन वे सब सिर्फ कागज़ पर ही चलते रहते हैं, गरीबों तक नहीं पहूँचते। किसानों केलिए मुआवजा नहीं मिल रहे हैं। मुआवजा मिलने केलिए पहले सरकारी अफ्सारों को ख्वुश करना पडता है। 'हलफनामे' में मकई्राम को अपने पिता की मृत्यु पर मुआवजा केलिए कई हलफनामों से गुज़रता पडता है और उसमें भी नौकरशाही की असंवदेनशीलता ऐसी कि अचानक एक दिन तहसीलदार कहता है कि तुमने जो उन्नीस हलफनामे दिये थे वे सब गायब हो गये हैं और मुआवजा पाने केलिए उसके बदले सरकारी अफ्सरों के पैंट गरम करना पड़ता है। एक तो किसानों को मिलने वाले मुआवजे में देर लगाते हैं और अंत में उसका छोटा अंश ही उसके हाथ आता है। हलफनामे के पीछे भाग कर अंत में मकई्राम ऊब गया था। लेकिन सुदर्शन का कथन उसे एक नयी प्रेरणा देता है। ''सरकार उनके बाप की जागीर नहीं है। सरकार अपनी है, हमारी है। और यह केस व्यक्तिगत नहीं है। इस निकम्मी सरकार ने तुम्हारी बाप की हत्या की है.. मुआवजा पाना अधिकार है भीख नहीं। चाहो तो सारा पैसा दान कर देना पर अर्जी वापिस लेने की भूल मत करना।''[41]

सरकार केलिए 'किसान आत्महत्या योजना' जैसी योजनाएँ सिर्फ चुनाव प्रचार की थीम है। और उसके पीछे भ्रष्टाचार का साधन भी।

3.4.4 भूख और गरीबी

आज भारत में एक ओर डिजिटल इंडिया, शाइबिंङ इंडिया की बात हो रही है, दूसरी ओर एक वक्त की रोटी न मिलने की वजह से गरीबों की मौत हो रही है।

भूख्र, प्यास और कुपोषण से मौत हो रही है। सस्ते कपडे और रैशन की इच्छा में भीड में जाकर अपना जीवन का भी त्याग देते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण 'हलफनामे' मे देख्र सकते हैं। ''सत्तर रुपये रोज़ की मज़दूरी पाने केलिए परिवार के परिवार ऐसे प्रदेशों में काम करने केलिए लालयित हैं जहाँ की भाषा वे समझ्र नहीं पाते। ... सवेरा से साठ मील दूर इसी तरह का दूसरा गाँव है जहाँ की औरतें एक बार तीस रुपये की धोती पाने के लालच में एक समारोह में राजधानी पहूँच गई। पच्चीस औरतों ने सात रुपये का प्रवेश टिकट ख्रीदा। एक स्कूल के छोटे से मैदान में कार्यक्रम था। भीड्र का कोई हिसाब नहीं- गोद में बच्चे, छाती से दूध पीते नन्हे शिशु, उँगलियाँ पकडे लड़के और लडकियाँ, औरतों का हजूम- धोती की उत्कंठा ऐसी थी कि भगदड मच गई। हादसे में उस गाँव की पच्चीस औरतों ने जान गँवा दी। वे कुचली गईं।''[42]

हमारे डिजिटल, कैशलेस इण्डिया में भूख्रे रैशन माँग रहे हैं और सरकार सिर्फ भाषण दे रहे हैं। जयश्री रॉय के उपन्यास में ख्रतना की तरह शादी भी स्त्री केलिए अभिशाप है क्योंकि भूख्र और गरीबी से जूझ्रते इस समाज में दहेज और शादी की आड़ में कमउम्र लडकियों की ख्रीद-फरोख्त होती है। उपन्यास में लेख्रिका कहता है-''भूख्र और गरीबी हर चीज़ को जायकेदार बना देती है।'' यहाँ भूख्र और गरीबी के बदले लड़कियों को बेचनेवाले पितृसत्ता की और लेख्रिका संकेत देती है।

3.5 साँस्कृतिक आयाम

संस्कृति संपूर्ण जीवन की शैली है जिसके अंतर्गत मानव का समस्त सीख्रा हुआ हुआ व्यवहार समाहित है। संस्कृति का संबंध मूलतः मनुष्य की चेतना के

संस्कार से है और सांस्कृतिक विकास का अर्थ मानवीय चेतना का गुणात्मक विकास है। संस्कृति संपूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है। लेकिन आज बाज़ार द्वारा पेश किये गये छद्म आधुनिकता हमारे समाज को बुरी तरह प्रभावित कर रहे हैं। मुनाफा कमाने के उद्देश्य से मनोरंजन के नाम पर लुभावने जाल बिछाकर आमजनता को आसानी से फँसा रहे हैं। सारे मानव भोगवादी जीवनशैली अपना रहे हैं। पूँजी के अबाध प्रवेश से संस्कृति की महानता, पवित्रता और भव्यता नष्ट हो रही है। संस्कृति अब उद्योग बन गयी है। वह बाज़ार में बिकने केलिए बनती है। मानव एक उपभोक्ता बनकर उपयोगमूलक संस्कृति को अपना रहे हैं। समकालीन हिंदी उपन्यासकार मूल्य संक्रमण के सांस्कृतिक आयामों को उसकी पूरा गतिशीलता के साथ अपने उपन्यासों में चित्रण करते हैं।

3.5.1 उपभोगवादी संस्कृति

भूमण्डलीकरण के दौर में साम्राज्यवादी शक्तियाँ और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपनी माल की खपत केलिए भारत जैसे विकासशील देशों को अपने कब्जे में फँसा रही है। भारत के अधिकांश आबादी गाँव और कस्बों में निवास करती हैं। बाज़ारवादी व्यवस्था सब कहीं अपना विस्तार पा रही है। 'निर्वासन' में जब सूर्यकान्त सुलतानपुर लौटते वक्त देखता है कि पूरा कस्बाई शहर बदल रहा है। ''दूकानों की भरमार हो गयी है। सडकें टूटी फूटी जिनके दोनों ओर दूकानें ही दूकानें जो बडे-बडे शो रूमों से लेकर छोठी कोठरियों तक में थीं। दूकानों के सामने भी ठेले या पटरी पर कोई कुछ बेच रहा था। थाह लेने पर पता चला कि शहर मोबाइल कम्पनियों के विज्ञापनों से रंगा हुआ था। उनके सुंदर रंगीन दैत्याकार विज्ञापन स्कूलों, कचेहरी, अस्पताल, डाकखाना, रेलवे स्टेशन, बस अड्डा आदि के

सामने आगे पीछे मुस्कुरा रहे थे। इनको टक्कर देनेवाला कोई अन्य पदार्थ पृथ्वी पर था तो वह था शीतल पेय।... तभी वहाँ पहूँचा जहाँ तहसील, स्कूल और कोतवाली थे। ये जस का तस थे। बस इतना फर्क लगता था कि जैसे किसीने इन तीनों पर धूल मिट्टी से पुताई की हो। एक पुराना हो चुका मटमैलापन वहाँ हांफ रहा था।"[43] इसका मतलब यह है कि बाज़ार ने पूरी दुनिया को बदल दिया। मोबाइल कंपनियों की भरमार, शीतल पेय की दूकान बडे-बडे शो रूम ये सब उपभोगवादी संस्कृति के निशाने हैं। लेकिन जहाँ परिवर्तन होना चाहिए था, वहाँ कोई भी परिवर्तन नहीं आया है, स्कूल, तहसील और कोतवाली आदि में। बाज़ार को प्रोत्साहन देनेवाली व्यवस्था आम आदमी की मूल आवश्यकताओं से दूर भाग रही है। स्टेट की ज़िम्मेदारी होती है हमारी शिक्षा व्यवस्था को सुधारना। देश में सुधार देश की आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। भारत की स्वयं की योजनाओं को छोड़कर विदेशी पूँजी पर आशा लगाकर सिर्फ उनके हित में कार्य करने केलिए स्टेट हमेश तत्पर रहते हैं।

'निर्वासन' में चाचा का परिवार वस्तु मोह में डूबे गये परिवार हैं। खाओ-पीओ और मौज करो ज़िन्दगी जीनेवाले लोग। विचारहीनता में जीनेवाले ऐसे लोगों को न कोई उद्देश्य है और न कोई लक्ष्य। भोगवाद के चंगुल में फँसे लोगों के विकास की वस्तुओं का ही मोह है। ऐसे लोग वस्तु अथवा उत्पाद के मूल्य को ही जीवन मूल्य बना रहे हैं। उपन्यास में शिब्बू, देवदत्त आदि पात्रों में अमेरिकी पूँजी के प्रति आकर्षण और वे योग, आयुर्वेद को अमरीका में बेचना चाहते हैं। इस प्रकार बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था में संबंधों का कोई मतलब नहीं होते। संस्कृति बाज़ार में बेचने केलिए सब लोग तैयार रहते हैं।

इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों में मूल्य संक्रमण की स्थितियों को पूरी पेचीदगी के साथ अभिव्यक्त किया है। परिवार, धर्म, राजनीति, संस्कृति आदि समाज के तमाम क्षेत्रों में मूल्यों का संक्रमण हो रहा है। मूल्य का जो वास्तविक अर्थ है जिसमें दूसरों की भलाई है, लोक मंगल का लक्ष्य है, नैतिक भावना की गुंजाइश है वे सब अब नष्ट होने की स्थिति में है। सबका अपना हित, अपना लक्ष्य, अपना तर्क हो गया है। पारंपरिक, धार्मिक, ऐतिहासिक ताकतों में ने अपने तहत मूल्यों को परिभाषित कर के प्रचार-प्रसार किया था। लेकिन आज उन रूढ़िगत मूल्यों का नकार हो रहा है। आज स्त्री, दलित, आदिवासी जैसी अस्मिताएँ जो सदियों से उन रूढ़िगत मूल्यों का शिकार बने थे, वे आज उन साज़िशों को पहचानकर उसके विरुद्ध आवाज़ उठा रहे हैं। इसके साथ-साथ नवऔपनिवेशक साम्राज्यवादी ताकतें भी अपने अनुकूल मूल्य व्यवस्था का निर्माण कर रहे हैं जिसमें मानव जाने-अंजाने में उनका शिकार हो रहा है। इन सभी स्थितियों में मूल्यों का संक्रमण होना स्वाभाविक है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार इन सभी स्थितियों को पूरी जटिलता के साथ अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त करता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. रमेश उपाध्याय- साहित्य और भूमण्डलीय यथार्थ, पृ.42
2. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम, पृ. 15
3. अखिलेश- निर्वासन, पृ. 220
4. वही, पृ. 220
5. जयश्री रॉय- दर्दजा, पृ. 77
6. अल्पना मिश्र- अन्हियारे तलछट में चमका, पृ. 25
7. वही, पृ. 26
8. वही, पृ. 82
9. वही, पृ. 86
10. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ. 211
11. वही, पृ. 212
12. चित्रा मुद्गल- गिलिगडु, पृ. 38, 39
13. वही, पृ. 40
14. डॉ.शेखर शर्मा, समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक, पृ.93
15. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम, पृ.20
16. वही, पृ.33
17. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम,पृ.72
18. वही, पृ.86, 87

19. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम,पृ.249

20. वही, पृ.249

21. अखिलेश- निर्वासन, पृ.26

22. दूधनाथसिंह - आखिरी कलाम, पृ.175

23. वही, पृ.302

24. अखिलेश- निर्वासन, पृ.11

25. असगल अली इंजीनियर- धर्म और साम्प्रदायिकता, पृ. 1

26. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम, पृ.223

27. डॉ. रामचंद्र वर्मा- मानक हिन्दी कोश, पृ.494

28. गोविन्द चंद्र पांडेय- मूल्य मीमांसा, पृ.112

29. बृजेश शुक्ल- मंडी, पृ.16

30. वही, पृ.96

31. वही, पृ.115

32. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम, पृ. 194

33. वही, पृ. 370

34. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम, पृ. 150

35. बृजेश शुक्ल- मंडी, पृ.94

36. वही, पृ.195, 196

37. चित्रा मुद्गल- गिलिगडु, पृ. 84

38. सच्चिदानन्द सिन्हा- भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, पृ.107

39. राजू शर्मा- हलफनामे, पहला पृ. 50

40. मनोजसिंह- होस्टल के पन्नों से, पृ. 251

41. राजू शर्मा- हलफनामे, पृ. 188

42. वही, पृ. 105

43. अखिलेश- निर्वासन, पृ. 199

चौथा अध्याय

सामाजिक मानसीकता : समकालीन हिन्दी उपन्यासों में

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रह नहीं सकता। सोचने की क्षमता सिर्फ मानव में ही निहित है। सोचना और समाज के साथ जुड़कर रहना मानव की मौलिक प्रवृत्ति है। जिस समाज में मानव रहते हैं, उस समाज का सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक परिवेश का गंभीर प्रभाव मानव पर पडता है। जो बदलाव समाज में दिखाई देती हैं, उसके कारण और परिणाम और अन्य संभावनाओं पर सोचने केलिए वे बाध्य हो जाते हैं। जब इस प्रकार मानव चिंतन-मनन करते हैं तो उनमें कुछ सैद्धांतिक विचारधारा उभर आने की संभावना है जो कि शायद भविष्य के सामाजिक मूल्य संकल्पनाओं को रूपायित करनेवाले महत्वपूर्ण चिंतन प्रक्रिया को अंजाम देते हैं। समाज के एक या दो या उससे अधिक लोगों द्वारा ऐसे चिंतन प्रक्रिया ज़ारी होती है। उसके परिणाम स्वरूप समाज के अनुकूल कभी प्रतिकूल मानसिकता सृजित होती है। परंपरागत ताकतें अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्य की पूर्ति हेतु संस्थापित की गयी सदियों पुरानी मूल्य व्यवस्था का खूब प्रचार-प्रसार किया था ताकि इस वर्चस्ववादी ताकतों की साज़िश सदियों तक बरकरार रहे और समाज के निम्न श्रेणी तथा स्त्री पर अपना अधिकार का लगाम हमेशा अपने ही हाथ में रहे।

4.1 पितृसत्ता की मानसिकता

भारतीय समाज जाति, धर्म और पितृसत्ता पर आधारित है। पितृसत्ता ने सारे नियम, सारी परंपराएँ अपनी ज़रूरत के अनुसार बनाई है। पितृसत्ता के तहत स्त्री को अकेली और पृथक कोई अस्मिता नहीं होती। हर जगह उसकी स्थिति पुरुष के सापेक्ष और उसके साथ संबंध के तहत ही परिभाषित होती है। जगदीश चतुर्वेदी के अनुसार- ‘‘पितृसत्ता एक व्यवस्था है जिसमें पुरुष के विशेषाधिकार, शक्ति और क्षमता

को मर्दानगी के आधार पर व्याख्यायित किया जाता है। पितृसत्ता के दायरे में औरतें अधिकार और स्वायत्त रहित होती हैं। उन्हें वही करना होता है जो पुरुष चाहता है। घर से लेकर बाहर तक, बच्चे से लेकर राजनीति तक सभी फैसले पुरुष लेता है और औरतें एवं अन्य को मानने केलिए मजबूर करता है। परिवार में पुरुष मूलतः मुखिया है और वह इसी आधार पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना वर्चस्व बनाए रखता है।"[1] उन्होंने परिवार को पितृसत्ता की बुनियाद माना है। परिवार किस तरह का है उससे पितृसत्ता का स्वरूप समझने में मदद मिलेगी। प्रो. क्रांचा इलैया ने भारत के पितृसत्ता को फासिज़म से जोडा है। उन्होंने कहा- "भारत की पितृसत्ता वेद पर आधारित है। भारत की पितृसत्ता बिल्कुल मानव विरोधी (एंटी ह्यूमन), इतिहास विरोधी (एंटी हिस्ट्री), ब्रह्मांड विरोधी (एंटी यूनिवर्स) है। फिर इसमें स्त्री की क्या बात करें।"[2] जयश्री रॉय का उपन्यास 'दर्दजा' पितृसत्ता के हाथों छले जानेवाली स्त्रियों और बेटियों की कहानी है। उपन्यास के अलग-अलग भागों में सुन्नत की कुप्रथा से बचने केलिए भाग जाने का दृश्य है। यह भागना पितृसत्ता के चंगुल से अपने को मुक्त करने केलिए है। उपन्यास में माहरा और मासा के भागना मात्र पलायन नहीं है बल्कि पितृसत्ता की साज़िशों के विरुद्ध स्त्रियों का विद्रोह है। उपन्यास में माहरा की बड़ी बहन जुब्बा शादी से पहले भाग जाती है। यहाँ पितृसत्ता, वहाँ के जनसमुदाय में फैले भूख और गरीबी के बदले स्त्रियों का सौदा करते हैं। बेमेल शादी के प्रतिकार में उसे यही उचित लगती है कि जंगल में जानवरों के शिकार होकर मर जाएँ। उपन्यास में और एक प्रसंग भी है जब साठ वर्षीय ज़हीर के साथ माहरा की शादी तय होती है, तब भी वह भाग जाती है और अपनी बेटी मासा को सुन्ना से बचाने केलिए भाग जाती है। इन सबके पीछे पितृसत्ता के स्वार्थ निहित मानसिकता

है। यह सुन्ना भी पितृसत्ता की साज़िश है कि स्त्रियों की यौन शुचिता और शारीरिक पवित्रता को सुरक्षित रखे। शादी तक उनके कौमार्य को अपने पतियों केलिए सुरक्षित रखने की क्रूर नीति से ही यह प्रथा का प्रचार हुआ है। पितृसत्ता के इस मनमानीपन से किसी विवाहिता की ज़िन्दगी किस प्रकार दुःस्वप्न में बदल सकती है और उसका दूसरों द्वारा अपना शरीर कैसे खुद केलिए बोझ बना दिया जाता है, आदि लेखिका ने माहरा के माध्यम से दिखा दिया है।

पितृसत्ता स्त्री देह को अपनी संपत्ति मानती है और सिर्फ पुरुषों को ही यौनानंद का अधिकार मानती है। इस कुप्रथा का प्रथम और आखिरी उद्देश्य भी स्त्रियों की नैसर्गिक कामेच्छाओं की दमन ही है। उपन्यास में साबीला की दादी कहती है- "औरत का जिस्म ही पाप का गढ़ है। जहाँ इच्छाएँ जन्मती हैं, उत्तेजना पैदा होती है उस हिस्से को शरीर से अलग कर देना ही भला। औरत खता की पुतली होती हैं, हव्वा की बेटियाँ...। इनका भरोसा क्या फिर जिस औरत का सुन्ना ना हुआ हो, उसे कौन मर्द अपनायेगा, कैसे उसके भरोसा होगा कि इस औरत ने कोई गुनाह नहीं किया है। ... एक बात और भी समझ लो तुम सब, यौन सुख सिर्फ पुरुषों केलिए होता है जबकि स्त्रियों केलिए इसका एकमात्र उद्देश्य मातृत्व होना चाहिए!"[3] यहाँ स्त्री की यौनिकता की पहरेदारी करनेवाली पितृसत्तात्मक सोच का यथार्थ अंकन हुआ है। उनका मानना है कि स्त्री की देह सिर्फ बच्चा पैदा करने केलिए ही होती है। पितृसत्ता ने स्त्री की कामेच्छाओं को दबाकार मात्र प्रजनन तक सीमित रहने का षड्यंत्र रचा है। लेकिन जो नियम लड़कियों की यौन सुरक्षा के बहाने लागू की गयी है वह मात्र लड़कियों तक सीमित है याने इस प्रकार की कोई नियम लड़कों केलिए नहीं बनाया था। वे अपने मनचाहे तरीकों से यौनसुख ढूँढ

सकता था जिसका उदाहरण माहरा के शब्दों में दिया गया है- ''मवेशियों को लेकर लौटते हुए मैंने तारिक भाई और उसके दोस्त कासिम को उनकी झोंपडी से चोरों की तरह निकलते हुए देखा था। उन दोनों को मैं अक्सर सबकी नज़र से लुकते-छिपते हुए एक साथ इस तरह देखती थी। .. हमारे समाज में शादी से पहले औरत और मर्द के मेल-मिलाप को बढावा नहीं दिया जाता। औरतों की शारीरिक पवित्रता पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। उसकी इच्छाएँ वश में रहें, वह किसी तरह बहक ना जाये तथा चाहकर भी गलत राह पर चल ना सके इसलिए उसकी देह को काट-छाँटकर मूँद दिया जाता है। ऐसे में पुरुष अपनी जिस्मानी ज़रूरतों का क्या करें। उन्हें तो नकारा नहीं जा सकता! वे पूरी होनी भी चाहिए। इसकेलिए मर्दों ने अपने में ही मिल-जुलकर रास्ता निकाल लिया है। जब तक शादी ना हो जाये या उसके बाद भी वे अपनी जिस्मानी ज़रूरतें एक दूसरे से पूरी कर लेते हैं। मुझे इन्हें इस तरह देखकर अजीब लगता है।''[4]

अखिलेश के 'निर्वासन' में भी पितृसत्ता की मानसिकता उभारा गया है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था आत्मनिर्भर स्त्री को अपने वर्चस्व केलिए खतरा मानते हैं। पितृसत्ता प्रेम विवाह को नहीं मानती है। सूर्यकान्त के पिता अवधनारायण गौरी की आत्माभिमान को कुचलने केलिए देह को केंद्र में रखकर उसे गालियाँ देता है। वह सूर्यकान्त से कहता है-''अपनी शक्ल मत दिखाना आइंदा... जा रंडी साली की जांघ सहला... उसके पेटीकोट मे मुंह रग्गड़...। हर्रामी बाप को इश्कबाजी दिखा रहा है...।''[5] यहाँ स्त्री को मात्र देह के रूप में देखनेवाले पितृसत्ता की मानसिकता उभर आती है। पढी लिखी चेतनासंपन्न गौरी सोचती है कि गाली सूर्य को ही दिया है लेकिन निशाना मुझपर ही लगाया था। पितृसत्ता की क्रूरता का चित्रण उपन्यास में

ऐसा भी आया है कि गोसाइगंज में जब अकाल हुआ था, तब बेटियों को ही बेच दी जाती थी, पर कहीं भी बेटे को बेचने की ख़बर नहीं मिलती। स्त्री को शुरू से ही दाँव पर लगाने की चीज़ बनाने की पितृसत्तात्मक मानसिकता पर लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है।

अल्पना मिश्र के 'अन्हियारे तलछट में चमका' के पिता, शचीन्द्र, मौसा, मुन्ना भैया प्रेमी आदि सारे पुरुष पितृसत्ता की निर्मिति हैं। स्त्रियों को उनके अनुकूलन में ढाला गया है। उपन्यास में मुन्नाजी है जिसकेलिए प्रेम का अर्थ 'पशुता' है। यह केवल बिट्टो की मौसी के घर का मामला नहीं है बल्कि स्त्री नामक प्रजाति को पालतू बनाकर रख्नेवाले समूचे समाज का ही है। स्त्री यहाँ सिर्फ योनि है। पाँच मंज़िलों में अटे तिवारी परिवार के पुरुषों का व्यवहार घटिया है। भोजन और मैथुन ये दो बातें उनके एकमात्र लक्ष्य नज़र आता है। प्रेम भी उनकेलिए दैहिक विषय है। उपन्यास के बूढे मौसाजी गिरिधारी तिवारी सुमन को अपनी वासना का शिकार बनाने की कोशिश करता है। मुन्नाजी के साथ झगडा होकर परेशान बैठी सुमन को दिलासा देने के बहाने मौसाजी अपनी काम वासना की पूर्ति करने की कोशिश करता है। इन पुरुषों की लंपटता का चित्रण उपन्यास में इस प्रकार वर्णित है- ''वे आकर उसी रेलिंग के सहारे बैठ गये। धीरे-धीरे दिलासा की मुद्रा में सुमन का सिर सहलाने लगे। इस अप्रत्याशित आत्मीयता से सुमन में क्या कुछ उमडा कि वह एकदम हिलककर रो पड़ीं। रोती हुई सुमन का सिर उन्होंने अपने कंधे पर रख लिया। इससे पहले कभी कोई मौका ही न आया था कि ऐसे कोई जवान स्त्री उनके कंधे पर टिककर रोई हो। वे कंधे से उन्हें थपथपाते, पीठ सहलाते। बिना ब्लाउज की पीठ

पर फिसलता उनका हाथ उन्हें अजीब सी उत्तेजना से भर रहा था।"[6] प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि पितृसत्ता की नज़र से स्त्री सिर्फ देह ही है।

4.2 स्त्री की मानसिकता

भारतीय समाज में स्त्री का जीवन पितृसत्ता के कटघरे के अंदर है। इसकी विभिन्न परतें होती हैं। स्त्री जीवन का कटघरा उसके जन्म के पहले ही तैयार हो जाता है। क्रूरता यहाँ तक है कि उसके जन्म के पहले ही उसका गला घोंट देती है। अगर जन्म हुआ तो परिवार और परिवेश बच्चे को स्त्री बनाकर कैद करता है। फिर पिता, पति, भाई आदि की हैसियत से उसकी सामाजिक हैसियत तय होती है। फिर बाज़ार भी अपने हितों केलिए स्त्री देह का भरपूर उपयोग कर रहा है। कभी-कभी वह भावनाओं के प्रवाह में बहकर पुरुष द्वारा ठगी जा रही है। आज की स्त्री समाज के इस बहुरूपियापन को जानते-बूझते हुए संघर्ष कर रही है। वह उन स्थितियों और परिवेश से लड़कर आगे बढ़ती है।

जयश्री रॉय के उपन्यास 'दर्दजा' में माहरा सोचती है "कई बार मुझे प्रतीत होता था रिवाज़ों में नियम-कानून तथा आचार-व्यवहार में औरतों के प्रति अवमानना छिपी रहती है, एक तरह की साज़िश-उसे दबाने की, कुचलने की, प्रताड़ित करने की। वह हमेशा अधीन रहे, असहाय रहे, निर्भर रहे... एक ही परिवार में भैया और हम बेटियों के बीच कितना फ़र्क़ किया जाता है। माँ, अब्बू ने अपने व्यवहार से ही हम बेटियों को समझा दिया है कि समाज और परिवार में हमारा स्थान क्या है। हमारी हैसियत क्या है। बचपन से जब वे ही लोग जो बच्चियों केलिए महत्वपूर्ण हैं, बच्चियों को हर बात पर यह एहसास दिलाते हैं कि वे अपने भाई से या दूसरे मर्दों से कमतर हैं, कम योग्य हैं तो धीरे-धीरे यह बात उनके मन में घर कर जाती हैं।

मगर जाने मैं क्यों इन बातों को मान नहीं पाती। क्यों मेरे मन में सवाल उठते हैं। औरत होकर भी मुझमें कोई हीन भावना नहीं...। माँ अक्सर कहती थीं, गुस्सा करना, सवाल करना ठीक बात नहीं। जो कहा जाता है किया करो। ज़्यादा सोचने से कोई ख़ुश नहीं रहता।"[7] उपन्यास में माहरा ने सवाल करना सीखा है। स्त्री देह को आधी-अधूरी बनाने की पुरुष सत्ता के षड्यंत्र को उसने पहचाना है। उसकी ज़िंदगी में गोरी मेम द्वारा समझायी गयी बातें पहली बार उसे प्रभावित किया था। उन्होंने माहरा और मासा को पढ़ाया और समझाया- "ज़रूरी नहीं कि औरत हैं तो दर्द सहना ही पड़ेगा। बहुत से दर्द कुदरत ने नहीं, इनसान ने औरत केलिए पैदा किये हैं। इनसान अपनी बनाई हुई तकलीफों का शिकार है। दुनिया की आधी से ज़्यादा तकलीफें मनुष्य ने ख़ुद अपने लिए पैदा की हैं। जिस दिन वह चाहेगा, यह दुनिया बेहतर हो सकती है, इसके अधिकतर दुख मिट सकते हैं। ख़ासकर औरतों के दुख।"[8] माहरा के एक तरफ उसके संस्कार, परवरिश और दूसरी तरफ उसके सवाल और संशय थें। उन सवालों और संशयों के साथ माहरा आगे बढ़ी थी। गोरी मेम की बातों में झलकता हुआ सच को उसने आत्मसात किया था। उसी पाठ को वह अपनी ज़िंदगी में और अपनी बेटी की ज़िंदगी में लागू करने में प्रयत्नरत रही थी। वह गोरी मेम की दी हुई किताबें मासा को पढ़ाया करती थी। उसने बार-बार मासा में यह बात डालने की कोशिश की थी कि "इल्म ताकत है, इल्म औरत को उसके पंख, उसका आकाश दे सकता है। सदियों के अंधेरे से, ज़हालत से, गुलामी से आज़ादी हमें हमारा इल्म ही दे सकता है।"[9]

बचपन से अनेक कष्ट और पीड़ा को सहती आयी माहरा में आशा की कोंपलें हैं और उसका विश्वास भी दृढ़ है। वह अपनी ज़िन्दगी को कुर्बान करके अपनी बेटी को सुन्ना के कुप्रथा का शिकार होने से बचा लेती है।

अखिलेश के 'निर्वासन' की महत्वपूर्ण स्त्री पात्र है गौरी। उसके माध्यम से लेखक ने स्त्री के स्वाभिमान, प्रेम, विद्रोह आदि को चित्रित किया है। उसके साथ-साथ स्त्री के शोषण, अपमान आदि के चित्र भी उपन्यास में उकेरे गये हैं। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री जीवन की त्रासदी के साथ-साथ उसके स्वाभिमान और अस्मिता को प्रस्तुत किया है। सूर्यकान्त के पिता द्वारा किया गया अपमान गौरी कभी भूल नहीं पाती है। पुरुष दंभ के सामने गौरी अपनी अस्मिता को समर्पित नहीं करती। इसलिए सुलतानपुर छोडकर आने के बाद फिर कभी भी वह वापस नहीं जाती। वह यह भी नहीं चाहती है कि सूर्यकान्त अपने पारिवारिक रिश्तों से फिर से जुडे। जब गौरी देखती है, सूर्यकान्त के मेफेयर रजिस्टर में 'शब्द जिन्हें कहे सुने बहुत दिन हुए' शीर्षक देकर ढ़ेर सारे शब्द दिये गये हैं जिन्हें सूर्य ने अपने गाँव, कस्बे में बोला सुना था। "ये शब्द जो दफ़्न हो गये थे अभी सूर्य में ज़िन्दा हैं तो वे रिश्ते भी हर हाल में ज़िन्दा होंगे जिन्हें ख़त्म हुआ मानकर वह सुकून से थी। वह जीवन, वह समाज भी सूर्य में बरता हुआ होगा। बल्कि इतने वर्षों के बिछोह के कारण वे सारे के सारे ज़्यादा दिल्कश और रंग बिरंगे हो गये होंगे... सूर्य के पहूँचने पर उसके पिता-वह आदमी उस रात जैसा ही व्यवहार करे.. सूर्य को धक्के मारकर निकाल दिया हो.. घर में घुसने न दिया हो। वह चाह रही थी कि इतने वर्षों बाद सूर्य का अपनों से पुनर्मिलन घृणा, अपमान, क्रोध के सैलाब के बीच हो।"[10] यहाँ गौरी के अंतर्मन की परत दर परत चित्रण करने में लेखक को सफलता मिली है।

आज स्त्री, पुरुष सत्ता के दंभ को कतई स्वीकार नहीं करती है। वह उसका प्रतिरोध करती है।

आज की स्त्री संघर्षों में मुक्ति की संभावनाएँ ढूँढ रही है। अपनी अस्मिता की रक्षा केलिए संबंध तोडने में भी देर नहीं लगाती। अल्पना मिश्र के 'अन्हियारे तलछट में चमका' में बिट्टो अपने विवाहित जीवन के बारे में कहती है- "मैं कोई डेढ़ साल रही उस संसार में, जिसे शादीशुदा ज़िंदगी कहते हैं। मैं इसे डेढ़ साल में अटा नहीं पाती हूँ। मुझे यह बड़ा लगता है। बहुत बड़ा। ज़िंदगी की सारी गिनतियों से बड़ा। .. तब तक, जब तक कि इस हद तक मुझमें भय नहीं भर गया कि अब नहीं भागी तो आगे नहीं बच पाऊँगी। जीने की इच्छा से फूटी आखिरी हद पार कर जानेवाली हिम्मत भी इसे कहा जा सकता है।"[11]

यह अनुभव सिर्फ बिट्टो का ही नहीं उसकी जैसी तमाम स्त्रियों का है। आज की स्त्री यातना एवं शोषण को चुपचाप सहने की मनोदशा से बाहर निकलने केलिए प्रयत्न कर रही है। उसकी लड़ाई मात्र अपनी लड़ाई नहीं बल्कि उसकी जैसी अनेक स्त्रियाँ की लड़ाई है जो अपनी पूरी ज़िंदगी में शोषण का शिकार हो रही हैं। जैसे शचीन्द्र के शब्दों में- "अपने हक की लड़ाई को ऐसे सबकी लड़ाई में बदलकर लड़ना, बड़ा लड़ना है।"[12]

इस प्रकार स्त्री अपनी विरोधी भूमिकाओं से उभरते हुए खुद अपने अस्तित्व की खोज और मुक्ति की पहचान बनाती है। ये औरतें समझौते की ज़िंदगी के ऊपर प्रश्नचिह्न लगाकर सिद्ध करती हैं कि पुरुष सत्ता का भ्रम ही उनके निषेधक तत्व है

जिससे बाहर निकलना है। यह बाहर निकलना ख़ुद केलिए जीना है। व्यवस्था और मानसिक सोच के परिवर्तन से ही यह संभव हो सकता है।

4.3 जातिवादी मानसिकता

भारत में जाति व्यवस्था की जड़ बड़ी गहराई तक पसरी हुई है। सवर्ण, ब्राह्मणवादी मूल्यों से सब कहीं दलित उत्पीड़न की घटनाओं में बढ़ोत्तरी देखी जा रही है। मनुवादी व्यवस्था ने ही जन्म के आधार पर मनुष्यों को ऊँची-नीची जातियों के ख़ाँचे में फिट कर दिया है। उनके जीवन भर के कामकाज और श्रम के विनियोग की दिशा भी तय कर दी गयी है। अलग-अलग जातियों केलिए निर्धारित कर्म के आधार पर ही उनके बीच आर्थिक संसाधनों का बँटवारा भी हो गया। दंड विधान के सहारे उस विभाजन को इतना मज़बूत बनाया गया कि कोई भी उसके विरुद्ध आवाज़ उठा नहीं पा रहे हैं। सदियों से चली आ रही इस व्यवस्था को संवैधानिक प्रावधानों के सहारे तोड़ने और मिटाने का सपना देखा गया लेकिन इस विषमता का अंत नहीं हुआ। ऊँच-नीच की मानसिकता मानव मन के भीतर इतने गहरे पैठी हुई है कि शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी उससे पूरी तरह उबर नहीं पाता।

'निर्वासन' उपन्यास में अखिलेश ने जाति संबंधित डिस्कोर्स का बृहत काण्ड रचा है। उपन्यास में जाति का मसला सर्वाधिक केंद्रीय है। सूर्यकान्त रामअजोर के परिजनों का पता लगाने के क्रम में जिस सच तक पहूँचता है वह यह है कि रामअजोर के बाबा वास्तव में कुम्हार थे। लेकिन इसका न तो उसके पास कोई प्रमाण है और न ही उपन्यास में कहीं इसकी गुंजाइश बनती है कि वह इस तथ्य को कभी प्रमाणित कर सकेगा।

गिरमिटिया बनकर सूरीनाम जाते वक्त जाति पूछे जाने पर पाण्डे कहने की मानसिकता के पीछे की वास्तविकता को उपन्यास में उकेरा है। ''भगेलू कुम्हार से जाति पूछे जाने पर उन्हें लगा कि यदि उन्होंने सत्य कहा तो: i) हो सकता है उन्हें भर्ती ही न किया जाये और इतना ही नहीं, कुम्हार होकर काम चाहने के ज़ुर्म में गिरफ्तार न कर लिया जाये। ii) मुमकिन है कि भर्ती कर लिया जाये लेकिन परदेस में उनका कामधाम के लिहाज़ से वही दर्ज हो जो गाँव की सामाजिक/जातिगत व्यवस्था में कुम्हार का होता है। iii) यह संभावना पुरज़ोर थी बल्कि सौ फीसदी पक्की थी एक कुम्हार को सोने की गिन्नी कमाने का अवसर सात जनम में नहीं मिल सकता। अगर परदेस में भी उन्हें वही घटा, सुराही, खिलौना और दीयाली बनाने का काम मिला और मज़ूरी में वही जौ, बाजरा और जड़हन, फिर परदेस जाने का क्या फायदा!! सबसे बड़ा भय था कि यहाँ भर्ती कर लें और बीच रास्ते में एक कुम्हार को बेइज़्ज़त करके उतार दें।''[13] यहाँ निचली जाति के प्रति अन्य जातिवालों की मानसिकता का चित्रण किया गया है। यहाँ भगेलू पाण्डे की मानसिकता अन्य जातिवालों की अपने प्रति निम्न भावना कभी स्वीकार करना नहीं चाहता है। वह इस मानसिकता से मुक्त होना चाहता है जिस पर निम्न जाति का छापा लगाया है।

जातीय चश्मे से सारे रिश्ते-नाते को जाँचनेवाले भारतीय समाज में सूर्यकान्त का शोध परिणाम मान्य नहीं था कि रामअजारे पाण्डेय के पूर्वज ब्राह्मण नहीं थे, कुम्हार थे। ब्राह्मणवादी सवर्ण मानसिकतावाला संपूर्णानंद बृहस्पति अपना तर्क इस प्रकार प्रस्तुत करता है। ''इस देश में एक पंडित का शूद्र बन जाना या शूद्र का ब्राह्मण होना असंभव है। यहाँ असंख्य कहानियाँ, लोककथाएँ, गीत, शास्त्र, मत मतांतर, जादू, फंतासी और चमत्कार है पर किसी में ब्राह्मण और शूद्र एकमएक नहीं

हुए। एक ब्राह्मण पेड़ में बदल सकता है या पत्थर में, वह जानवर, राक्षस, पहाड, नदी सब कुछ हुआ है, लेकिन वह शूद्र ब्राह्मण ऐसा अजूबा नहीं घटा।"[14] अखिलेश की यह व्यंग्योक्ति भारतीय वर्ण-व्यवस्था के क्रूर चेहरे पर ज़ोरदार तमाचा है। क्रूरता यहाँ तक है कि हरहू नाम का नीची जाति का व्यक्ति धर्म और अध्यात्म की बात करने पर पंडित जी के हाथों मारा गया।

आज राजनीति जातिवाद के कलंक से मुक्त होने के स्थान पर अनुसूचित जातियों और पिछडी जातियों को अपने वोटबैंक के रूप में परिवर्तित करने केलिए संरक्षण के वादे देकर इस कलंक को और गहरा कर दिया है। तत्पश्चात भारतीय समाज में यह व्याधि बुरी तरह जकड लिया है। निचली जातिवालों को आर्थिक तथा सामाजिक न्याय दिलाने के बहाने सत्ता अपना हित पूरा करती है। 'आखिरी कलाम' में पार्टी के एक युवा नेता कहता है- "जनता गरीबी के बारे में नहीं, जाति के बारे में इन्टरेस्टड है कॉमरेड!" उसने यह भी कहा "पहले जो कॉमरेडस थे, उनमें बहुत सारे अपनी जातियों के मूर्द्धन्य नेता हैं। और फिर जाति के नेतृत्व के नाम पर दुनिया भर के लुच्चे-लफंगे, विचारहीन, अवसरवादी, विधान सभाओं और संसद में आ बैठे हैं। और जनता इसीसे खुश है कि चलो, भला आदमी न हुआ तो क्या, अपनी जाति का तो है। दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र जातिवादी सरगनाओं का अखाड़ा है और चाहे सर्वहारा हों या उच्चकोटि के वैज्ञानिक- सब उनके जरखरीद गुलाम। मूर्खता की एक उजड्ड दृश्यावली है, जिसे संसदीय बहस कहते हैं और देश-विदेश के विद्वानों और व्याख्याकारों को हमारी इस संसदधर्मिता पर गर्व है।"[15] इस प्रकार हर राजनीतिक दल निर्वाचन के अवसर पर जाति को ही प्रधानता देती है इसलिए कि जिस जाति का किसी प्रांत में प्रबल स्थान है उसी जातिवाले को ही उस

इलाके में उम्मीदवार के रूप में खडा करने का निर्णय लेती हैं क्यूँकि वोट बैंक हर प्रांत में हमेशा जातिवाद के आधार पर ही काम करती है।

4.4 साम्प्रदायिक ताकतों की मानसिकता

आज हमारे देश के चारों ओर साम्प्रदायिकता का डरावना शोर सुनाई पड़ रहा है। पिछले कुछ सालों से साम्प्रदायिक ताकतें मज़बूत हुई हैं। वे अपने को राष्ट्रवाद के रूप में पेश करती हैं। असल में यह लोकतांत्रिक राष्ट्रवाद को खतम करने की कोशिश है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर लोकतांत्रिक संस्थानों, सेक्युलर प्रतीकों और अल्पसंख्यकों पर हमला किया जा रहा है। सांस्कृतिकरण के बहाने वे भारत की पुरानी वर्णाश्रमी व्यवस्था को नए रूप में पुनः स्थापित करना चाहती हैं।

निर्वासन का संपूर्णानंद बृहस्पति जो पर्यटन निदेशालय का अध्यक्ष बना है, वह इस प्रकार की साम्प्रदायिक ताकत का प्रतीक है। वह सात वर्षों में तैंतीस पुस्तिकाएँ लिखकर महान हिंदू धर्म को विश्व के सामने प्रस्तुत कर रहा है। यह भी नहीं की उसने अपने द्वारा व्याख्यायित इन सिद्धांतों को प्रतिपादित किया कि पाँच सौ मस्जिदों के मूल में हिंदू मंदिर है और राम की धनुष, कृष्ण का सुदर्शन चक्र या कालीदेवी के खंजर आदि आज भी इस देश में किसी स्थान पर मौजूद है। उसने पिछले सरकार द्वारा प्रस्तावित 'मुक्तिपथ परियोजना' को 'सतयुग' योजना में बदल दिया। मुक्तिपथ योजना के अनुसार सन् 1857 में विद्रोही लड़ाके जिन-जिन रास्तों से आगे बढ़े थे उन्हें जोड़कर एक कॉरिडोर का निर्माण करना था और पर्यटन स्थल के रूप में विकसित करके आज़ादी के थीम पर संग्रहालय बनवाना था। जिस स्वाधीनता संग्राम में हिंदू-मुस्लिम साथ-साथ लड़े थे उसके स्मारक का महत्व ऐसे नेताओं केलिए कोई मायना नहीं रखते। इनकेलिए हिंदू-मुस्लिम के बीच आपसी वैर

भावना बढ़ाना ही एकमात्र लक्ष्य होता है। संपूर्णानंद बृहस्पति इस परियोजना को नास्तिकों द्वारा तैयार की गयी परियोजना कहकर अपना कुतर्क इस प्रकार पेश करता है- ''एक ख़ास धर्म के लोग जो हमारे धर्म के जन्मजात विरोधी हैं उनको इतना बढ़ावा दिया गया कि उन्होंने आतंकवाद का रास्ता अपना लिया। जब सरकार, प्रशासन, पुलिस सब तुष्टीकरण के नाम पर हाथ में दही जमाये बैठे रहेंगे तो आतंकवाद पनपेगा। और इन्हीं दुष्ट आतंकवादियों ने भगवान राम की जन्मभूमि अयोध्या और बाबा भोलेनाथ की नगरी वाराणसी जैसे प्रमुख पर्यटन केंद्रों पर हमला किया। वाराणसी के संकटमोचन मंदिर में हुए विस्फोट को भला कैसे भूल सकता है। अब ऐसे हालत में पर्यटकों ने इस प्रदेश में आना कम कर दिया। नतीजा है पर्यटन से प्राप्त होनेवाली आय के मामले में हम लगातार पिछड़ रहे हैं।''[16] यहाँ संपूर्णानंद बृहस्पति अन्य धर्मों को आतंकवादी कह रहे हैं। ऐसे लोगों को यह समझाना मुश्किल होता है कि आतंकवाद का कोई धर्म नहीं होता, उसकी कोई जाति नहीं होती। बस आतंक फैलाना तथा नतीजन फायदा उठाना ही उनका धर्म, कर्म और उद्देश्य होता है। ऐसे संपूर्णानंद केवल हिन्दू धर्म में ही नहीं विश्व के किसी भी धर्म में ऐसे लोगों को देख सकते हैं जिनके कारण ही दुनिया में हिंसा, दंगा, नरसंहार, मार-काट आदि बढ़ रही हैं।

संपूर्णानंद बृहस्पति पर्यटकों के आकर्षण का मूल तत्व के रूप में प्राचीन हिन्दू धर्म को ही मान रहा है। वह वैज्ञानिक चेतना से संपन्न भारत को अध्यात्म और अंधविश्वास की पैकेजिंग के साथ विदेशियों को बेचने की मानसिकता रखनेवाला आदमी है। वह कहता है-''सुख, सुविधा, विज्ञान और आधुनिकता से उन्हें कभी नहीं आकर्षित कर सकता है... उनको चाहिए प्राचीनता, रहस्य, चमत्कार और अध्यात्म।

ये सब किसी एक तत्व में एक साथ हैं तो सनातन प्राचीन हिंदू धर्म में। हम इनके माध्यम से ही इस प्रांत की पुण्यभूमि पर विश्व के विशाल भूभाग के निवासियों को पर्यटन पर आने केलिए विवश कर सकते हैं।"[17] यहाँ संपूर्णानंद वर्णाश्रम व्यवस्था को पूरी ताकत के साथ पुनर्जीवित करने का षड्यंत्र रच रहा है। 'सतयुग' परियोजना के अनुसार- "धार्मिक पर्यटन के प्रत्येक केंद्र प्राचीन परिपाटी के अनुरूप होंगे। जैसे कि मंदिर के समीप निर्मित बस्ती में पर्ण कुटीर बनते हैं, मिट्टी के घर हों... पर्यटन केंद्रों के आसपास प्राचीन नगरों की अनुभूति करानेवाला एक क्षेत्र भी बसाना होगा। इस नगर में हरे भरे वृक्षों से समृद्ध उद्यान होंगे.. ये वृक्ष वैदिककाल से लेकर गुप्तकाल तक के साहित्य में उल्लिखित वृक्ष होने चाहिए.. हर नगर में, ब्रह्मचारी तथा साधु शिक्षा मांगते हुए दिखे जाएंगे.. इस नगर में गणिकाएं भी होंगी जो अतीव सौंदर्य की स्वामिनी होने के साथ-साथ नृत्य, संगीत और विशिष्ट अतिथियों को कामसूत्र पर आधारित सेक्स का ज्ञान प्रदान करने निष्णात होंगी अतिथियों के निवास केलिए सितारा होटलों के बजाय प्राचीन वास्तुकता के मानकों के आधार पर अंतःपर निर्मित किये जायें। जिनमें एक प्रखंड आधुनिक सुख सुविधाओं से सम्पन्न हो तो दूसरे ज़्यादा विस्तृत प्रखंड में प्राचीन ऐश्वर्य और विकास की व्यवस्था हो.. सब कुछ इतना उत्तम हो कि इन्हीं आध्यात्मिक पर्यटन केंद्रों पर स्त्रियाँ अपने पतियों से रतिक्रिया के बाद गर्भवती हों। महान धार्मिक वातावरण में गर्भ में आनेवाली संतानें अत्यंत बलवान, वीर्यवान और तेजस्वी होंगे।"[18]

चौदह कराडे रुपये के 'सतयुग' योजना का एकमात्र लक्ष्य है पूँजी की बढ़ोत्तरी। ऐसे लोग ही समाज में उन्माद फैलाने और भीड़ तंत्र का निर्माण करने केलिए धर्म का इस्तेमाल करते हैं। उपन्यास के अंत में राम अजारे पांडे और बृहस्पति

का मिलाप दिखाकर पूंजी पतियों और उग्र हिन्दुत्ववादियों के घनिष्ठ संबंध को पर्दाफास किया गया है। सत्ता, धर्म और पूँजी का गठजोड यहाँ स्पष्ट होता है।

4.5 भीड़ की मानसिकता

मनोविज्ञान के अन्तर्गत भीड़ की मानसिकता का विश्लेषण वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। किम्बल युंग के अनुसार- "भीड़ ऐसी सामूहिकता है जिसमें किसी सामान्य ध्यान केन्द्र के प्रति एक सीमित स्थान के भीतर अनुक्रिया करते हुए व्यक्तियों की अनिवार्यतः एक बड़ी संख्या सम्मिलित होती है। (The crowd is a collectively involving essentially a considerable number of individuals responding within a limited space to some common object of attention)"[19]

सामूहिक शक्ति (Mass strength) भीड़ की मनोवैज्ञानिक शक्ति है। वे एक दूसरे के कार्य को देखकर उत्तेजित हो जाते हैं। भीड़ में व्यक्ति का अपना अलग अस्तित्व न होकर वह भीड़ के अनुसार व्यवहार करता है। उनका बौद्धिक स्तर सामान्य की अपेक्षा निम्न होती है। सदस्य के रूप में एक कमज़ोर व्यक्ति भी इतनी सामूहिक शक्ति का अनुभव करता है कि वह किसी को भी ललकार सकता है और किसी पर भी हमला भी कर सकता है। भीड़ में क्रियाशील भीड़ और निष्क्रिय भीड़ भी होते हैं। लेकिन उग्रवादी भीड़ ही हत्याकाण्ड, आतंकवाद और दंगे में शामिल होते हैं। इस प्रकार के भीड़ में घृणा, क्रोध आदि संवेग तीव्र मात्रा में रहते हैं। यह आक्रमणकारी भीड़ ही लूट-मार, तोड़-फोड़, आगजनी आदि करते हैं। वर्तमान राजनीति ऐसी भीड़ को तैयार करते हैं जिसमें शक्ति का आभास (sense of power) निहित है। भीड़ अविवेकशील होते हैं और उनमें सुझाव ग्रहणशीलता उच्च स्तर की पायी जाती है। यह भीड़ साम्प्रदायिकता के आधार पर तैयार की गयी भीड़ है।

साम्प्रदायिक ताकतों का सबसे पहला और महत्वपूर्ण कार्यभार इस प्रकार की भीड़ मानसिकता पैदा करना है। भीड़ की सदस्यों से यदि कोई यह कहता है कि बिल्डिंग को तोड़ दो, बाज़ार लूट लो, आग लगा दो तो उत्तेजित भीड़ ये सब करने केलिए तैयार होते हैं और वे अनैतिक भी होते हैं।

'आखिरी कलाम' उपन्यास में मस्जिद तोड़ने जानेवाले भीड़ के एक व्यक्ति से आचार्यजी कहते हैं- ''धर्म स्थान गिराना तो पाप है।'' तब उसका जवाब था- ''कोई पाप-वाप नहीं।''[20] उपर्युक्त कथन से ही पता चलता है कि यह भीड़ कितनी अनैतिक होती है। उपन्यास में 'कारसेवक एक्सप्रेस' के भीड़ का भी वर्णन है जो लोगों को न केवल तंग करते हैं बल्कि उनको लूटने, उनके साथ बदसलूकी करने, उनकी झोंपडियाँ जलाने आदि कार्यों को हीन ढंग से करते हैं। ट्रेन को रास्ते में रोककर पूरे खेतों का सर्वनाश करते हैं और स्टेशन मास्टर को भी थप्पड मारते हैं।

आज सत्ता लोगों को निष्क्रिय भीड़ में तब्दील कर देते हैं और जनता इस प्रकार तब्दील होने के लिए मजबूर हैं। 'परछाई नाच' में किंशुक कहता है- ''भीड़ सिर्फ संख्या है, अस्तित्व नहीं विचार नहीं है। तुम भी अभी तक इस भीड़ का हिस्सा हो जो चुपचाप सड़क पर बायें हाथ चलती है, जो चुपचाप परंपराओं, कानून, धर्म के कोडों के आगे झुकी रहती है, जो मन्दिर देख कर दोहरा हो जाती है... जो लिखे हुए तरीकों से प्यार करती है... इस भीड़ के सब निर्णय दूसरे लेते हैं।''[21] अनहद की राय में किंशुक भी ऐसी भीड़ की प्रतिनिधि है। उसे किसी भी रूप में ढ़ाला जा सकता है।

4.6 बुद्धिजीवियों की मानसिकता

जब समाज में अन्याय और अधर्म दिखाई देता है तब उसके खिलाफ आवाज़ उठाने और उसके खिलाफ कारवाई जुटाने में जनता को प्रेरित करनेवाले विचारधाराओं को जनता में रूपायित करने का मौखिक और लिखित कार्य करनेवाला ही वास्तविक बुद्धिजीवि है। समाज में न्याय की स्थापना करना ही उनका लक्ष्य है। लेकिन आज वे बिना आवाज़ उठाये चुप्पी साधकर किसी के पक्ष में अपने आपको न दिखाते हुए एक प्रकार की तुष्टीकरण की नीति अपना रहे हैं।

'आखिरी कलाम' के 'पूरब के ऑक्सफोर्ड में उस दिन' वाले अध्याय में बाबरी मस्जिद विध्वंस के दूसरे दिन विश्वविद्यालय के वातावरण का जीवन्त चित्रण मिलता है। पूरब के ओक्सफोर्ड कहनेवाले विश्वविद्यालय में जहाँ सालों पहले नेहरूजी के भाषण से तालियों की गडगडाहट और नारों से भरा हुआ था, वहीं मस्जिद विध्वंस के दूसरे दिन बुद्धिजीवि लोगों ने इस गंभीर विषय पर क्या किया, उनकी मानसिकता कैसी है आदि का खुला वर्णन है। नेहरूजी के भाषण में हिन्दुस्तान के दिमागी गुलामी को उतार फेंकने का, खुले दिमाग होने का, धर्म, जात-पाँत, ऊँच-नीच के भेदभाव मिटाने का संदेश हुआ था और उन्होंने नौजवानों से दुनिया को बेहतर बनाने के सपने देखने की सलाह दी थी। लेकिन जहाँ ये बातें हुई थीं, वहीं बिलकुल भिन्न कार्य ही घटित हो रहे हैं। समाज में इतनी बड़ी दुर्घटना हो गयी लेकिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लोग 'बहुत ठंड लगता है', 'पहाड़ों पर बर्फ़ गिरी है' जैसी बातें कहकर अपना समय काट रहे हैं।

एक प्रोफेसर कहते हैं- "इस पर हम लोगों का चुप रहना ही अच्छा है।"[22] यहाँ बुद्धिजीवि लोग चुप रहकर किस प्रकार तुष्टीकरण की नीति अपना रहे हैं इसका

वास्तविक वर्णन है। एक प्रोफेसर घुन्ना पाण्डेय है जो बाहर से वामपंथ का चोला ओढ़ा हुआ दिख्रता है लेकिन वह भी अंदर ही अंदर कट्टर साम्प्रदायिक होता है। वह कहता है- ''हमारा धर्मनिरपेक्ष़ बने रहना जरूरी ही नहीं, अनिवार्य है ....मैं धर्मनिरपेक्ष़ आज भी हूँ लेकिन मैं मस्जिद ढहाने की निन्दा भी नहीं करूँगा।''[23] प्रोफेसर का कहना है कि प्रगतिशील होने के लिए धर्मनिरपेक्षता का चोला ओढना ज़रूरी है। इसी चोले को ओढकर ये लोग अपनी संकीर्ण जातिवादी मानसिकता को ज़ाहिर करते हैं। फिर कुलपति महोदय आकर मस्ज़िद विध्वंस पर शोक प्रस्ताव या विरोध पत्र तैयार करने का काम प्रोफेसरों को देते हैं। धर्मनिरपेक्षता की बात करनेवाले घुन्ना पाण्डेय को ही काम मिलता है। शिवानन्द पाण्डेय नामक एक प्रोफेसर भी उसे ऐसा निर्देश देता है- ''पोज़... धर्मनिरपेक्षता का पोज़, जो गुरुमन्त्र तुमने दिया था, उसे फिट करो और ड्राफ्ट कुछ ऐसा, जो बाएँ-दाएँ, ऊपर- नीचे- हर ओर लगे। जो जैसा सोचे, वैसा ही उसमें पाए। जो सार्थक, सन्दर्भ- सहित सम्पूर्ण निरर्थक हो। हाँ- ना, हाँ-ना- दोनों एक साथ।''[24] यहाँ प्रोफेसर लोग एक तरह की बचाव की नीति अपनाते हैं। ड्राफ्ट जो जैसा पढ़े वैसा ही लगे यानि पाठकों को लगे कि उनका मानसिक दृष्टिकोण लिखनेवाले की मानसिकता से बिलकुल अनुकूल हो।

यहाँ विश्वविद्यालय के आन्तरिक राजनीति स्पष्ट दिखाई देती है। बुद्धिजीवी वर्गों की चुप्पी और बचाव की नीति का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं।

4.7 राज्य या स्टेट की मानसिकता

राज्य अपनी राजनीतिक संस्थाओं की विशिष्ट संरचना के ज़रिए अपना प्रभुत्व, वर्चस्व और वैधता प्रदान करती है। ''राज्य का अर्थ राजनीति की उस

सर्वाधिक केंद्रीय अवधारणा से है जो राजनीतिक संस्थाओं की एक विशिष्ट संरचना के ज़रिये निश्चित भू-सीमा में अपनी संप्रभुता, वर्चस्व और वैधता स्थापित करती है।"[25] मैक्स वैबर, दुर्ख़ाइम, फूको, अलथूसर आदि पाश्चात्य चिंतकों ने स्टेट की अवधारणा पर बात की है। मैक्स वैबर के अनुसार राज्य अपने वर्चस्व को बनाये रखने केलिए अपनी वैधता की विभिन्न संरचनाएँ खडा करती हैं। कभी परंपरा के नाम पर, कभी करिश्मे के नाम पर और कभी वैधानिकता के नाम पर राज्य लोगों को आज्ञापालन की तरफ ले जाता है। अलथूसर के अनुसार राज्य केवल दंड विधान, कारागार और फौज-पुलिस के ज़रिये ही नहीं, बल्कि अपनी ताकत के सांस्कृतिक और विचारधारात्मक रूपों की रचना से भी जनमानस में स्वयं को स्थापित करता है।

स्टेट का मतलब संस्थाओं का समुच्चय सा होता है जिसमें न्यायालय, पुलिस, शिक्षा, स्वास्थ्य, सरकारी कार्यालय जैसे तमाम चीज़ें होती हैं। आजकल राज्य की बुनियाद हिंसा और भय पर टिकी हुई है जिसमें शोषण अंतर्निहित है। राज्य को यह पता है कि लोग राज्य से डर नहीं रहे या राज्य हिंसक नहीं रहेगा तो कोई राज्य को नहीं मानेगा। 'परछाईं नाच' में चिंगारिया कहता है- "माँ के गर्भ से ही इस श्रम की शुरूआत हो जाती है... वह मैला उठाता है- वह बर्तन साफ़ करता है- वह सड़क पर नंगे पाँव पत्थर ढोता है, हल चलाता है, मुर्दे फूँकता है। वह खाता नहीं, पढ़ता नहीं, पहनता नहीं। वह नहीं जानता दवा क्या होती है, अक्षरों का रहस्य क्या होता है, साबुन क्या है, पूरा साबुत कपड़ा कितना बड़ा होता है। अपना पेट वह स्वयं अपने श्रम से भरता है। यह समाज होता तो है, पर उसके श्रम को भोगने केलिए। यह धर्म भी होता है, पर उसे इस जन्म पर दुत्कारने केलिए। राज्य भी होता है, पर उसे

ऐसा ही बनाये रखने केलिए।..."[26] राज्य की मानसिकता को समझने केलिए चिंगारिया का यह लम्बा उद्धरण पर्याप्त है। अपने अधिकारों से वंचित, पीडित, शोषित मज़दूर और गरीब लोगों को सत्ता उसी अवस्था में बनाये रखता है ताकि न वे विद्रोह कर सके न ही विरोध कर सके। जो विरोध कर रहे हैं क्राँति कर रहे हैं उनकी नियति नुकीले दाँतवाले के शब्दों में- "पुलिस की गोली से मारा गया यह। हमने उसे कुत्ते की मौत मारा। झोंपड़ी में बैठा चावल का माँड़ पी रहा था। छह गोली हमने उसके सीने में उतारीं। इसकी लाश को पूरे गाँव में घसीटा।"[27] लेखक ने यहाँ सत्ता का क्रूर रूप का चित्रण किया है। राज्य-सत्ता, पुलिस, न्याय व्यवस्था से गठजोड करके आन्दोलनों को दबाती है और उन्हें अपने ज़मीन से निष्कासित करते हैं और हर राज्य में यही प्रक्रिया अपनाई हुई नज़र आती है। कुछ संदर्भ ऐसे आते हैं जो कि राज्य अनुशासनपालकों को चुप्पी साधने और निष्क्रिय रहने का अनुदेश देकर वर्चस्ववादी ताकतों का साथ देते हैं। इस प्रकार स्टेट के ज़रिए अधिकार का दुर्विनियोचन का संदर्भ 'आख़िरी कलाम' में दर्शनीय है।

राज्य अपने कल्याणकारी स्वरूप से पीछे हट रहा है। पिछले कुछ दशकों से किसान आत्महत्या भारतीय राज्य व समाज केलिए बडी चिंता का सबब बनी है। राज्य के पूँजी केंद्रित होते जाने व अपनी कल्याणकारी भूमिका से हटते जाने आदि ने इसकी पीठिका तैयार की है। राज्य साम्राज्यवादी ताकतों के इशारे पर अपनी मनमौजी तरीके से आर्थिक नीतियाँ चलाती हैं जिनकी वजह से किसान आत्महत्या केलिए मजबूर हो रहे हैं। राजू शर्मा के 'हलफनामे' उपन्यास में सुदर्शन नामक पात्र प्रसिद्ध पत्रकार सैनाथ के शब्दों को उधार लेते हुए कहता है- "किसान जब आत्महत्या करता है तो वह ज़िन्दगी और मौत के बीच अवसादपूर्ण चुनाव नहीं है,

बल्कि ज़िन्दगी केलिए संघर्ष की आज़ादी का लोप है। मौत का चुनाव किसान नहीं करता बल्कि तन्त्र उसका जीने का अधिकार छीन लेता है...।"[28] मतलब यही है किसान आत्महत्या वास्तव में आत्महत्या नहीं बल्कि स्टेट द्वारा की गयी हत्या है। स्टेट की यह ज़िम्मेदारी है कि वह अपने नागरिकों के जीवन को सुरक्षित रखें, उन्हें बेहतर जीविका और आवास व्यवस्था प्रदान करें और उनका स्तर ऊपर उठाए। लेकिन स्टेट अपने इस दायित्व से लगातार पीछे हट रहा है। यही नहीं अपने इन स्वार्थ निहित लापरवाही के कारण किसान आत्महत्या करने में मजबूर हो जाते हैं। वस्तुतः यह शासन तन्त्र द्वारा की जा रही हत्या है।

उपन्यास में मकई राम को अपने पिता की मृत्यु पर मुआवजे केलिए कई हलफनामों से गुज़रना पडता है और उसमें भी नौकरशाही की असंवेदनशीलता ऐसी कि अचानक एक दिन तहसीलदार कहता है कि तुमने जो उन्नीस हलफनामे दिये थे वे सब गायब हो गये हैं और मुआवजा चाहिए तो उसके बदले सभी अफ्सरों के पैंट गरम करना पड़ता है। एक तो कई हलफनामों के चक्कर में किसानों को मिलनेवाले मुआवजे में देर लगाते हैं और अंत में उसका छोटा अंश ही उसके हाथ लगता है। मकई सोचता है- "देश में जितने हलफनामे बनते हैं सब एक जैसे होते हैं और उनकी समान भाषा के पीछे सत्ता की ताकत और एकतरफापन है। ... यह कागज़ कमज़ोर इंसान का बैरी है और सत्ता का एक साथ बैसाखी और औजार।"[29] सरकार की तंत्र या सरकार की भाषा एक जैसे ही होते हैं। एक किसान की मृत्यु उसकेलिए सिर्फ सूचना या ख़बर मात्र है। उसके परिवार में क्या असर पड़ा है उसकी स्थिति कैसी है आदि से कोई लेना देना नहीं है।

स्टेट की सत्ता-संरचना को तहस-नहस करने में समकालीन हिन्दी उपन्यासकार सक्षम रहे हैं। अखिलेश ने 'निर्वासन' में इस जनतंत्री विरोधी सत्ता की असलियत को खुलकर प्रस्तुत किया है। उपन्यास में आपातकालीन भारत के बिंब और समकालीन राजनीति का पडताल भी प्रस्तुत हुए हैं। आपातकाल के प्रसंग में सत्ता, लोगों के संवैधानिक अधिकार को ताक पर रखकर किस प्रकार उन्हें आतंकित किया है इसका खुलकर चित्रण प्रस्तुत हुआ है। नसबंदी के प्रसंग में कथाकार ने तानाशाही शासन व्यवस्था का पर्दाफाश किया है। स्टेट के power का demo उपन्यास में इस प्रकार हुआ है- ''उनका वेतन कई महीनों से स्थगित था। क्योंकि वह केस नहीं ला सके थे। केस नसबंदी करानेवाले को कहते थे। आपातकाल में सबसे केंद्रीय कार्यक्रम था परिवार नियोजन। इसकेलिए हर जनपद हर तहसील में नसबंदी की ज़ोराज़ोरी थी। प्रत्येक सरकारी मुलाज़िम केलिए नसबंदी का केस लाने का फरमान था... इस मुहिम के चलते भिखारियों, मज़दूरों, रिक्शावालों आदि की शामत आ गयी थी। उनपर झपट्टा मारा जाता और नसबंदी कर दी जाती। और तो और बच्चे, बूढे, किशोर भी सुरक्षित नहीं थे। अफ्वाह थी कि डी.एम साहब के बंगले पर काम करने के बहाने दो सौ मज़दूर बुलाये गये जिनमें सभी की प्रजनन नस काट दी गयी थी। जनपद के अनेकानेक कुंआरे पिता बनने के पूर्व ही पिता बनने की क्षमता से महरूम कर दिये गये थे.. कोई यदि इस अन्याय का विरोध या शिकायत करता तो 'मीसा' कानून में गिरफ्तार कर लिया जाता था।''[30] यहाँ राज्य की अमानवीय हरकत वर्णित है। यहाँ मानव के मूल अधिकार स्वतंत्रता पर ही रोक लगाया है। राज्य खौफ़ पैदा करके, लोगों को सिर्फ मशीन बनाकर सारे आदेशों का पालन करने केलिए मजबूर बनाया जा रहा है। मानव कल्याण केलिए स्थापित राज्य स्वयं के सुख-सुविधा एवं वैभव केलिए स्थापित बन रहे हैं।

राज्य समय-समय पर अपने अंगों उपांगों के माध्यम से अपनी सत्ता और शक्ति का प्रदर्शन करता है, अपना आवाज़ उठाता रहता है कि हम है, हमारे सामने तुम्हारी औकात तुच्छ है। हिंसा को लोग ख़राब मानते हैं लेकिन राज्य ही हिंसा का डेमो करता है। इस जनतंत्रविरोधी राज्य-सत्ता की असलियत को बिना हिचक के साथ प्रस्तुत करने में समकालीन हिन्दी उपन्यासकार सक्षम हुए हैं।

4.8 नव उपनिवेशवादी, पूँजीवादी मानसिकता

वर्तमान समय की वास्तविकता यही है कि साम्राज्यवादी शक्तियों ने संसार के अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों पर अपना अधिकार जमाकर उन्हें अपना गुलाम बनाके रखा है। सोवियत संघ के विघटन के बाद भूमण्डलीकरण, निजीकरण, उदारीकरण आदि तत्वों ने पूँजी की यात्रा को और सुगम बना दिया है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ उत्पादन स्रोतों पर अपना वर्चस्व स्थापित करके बड़े-बड़े बैंकों को अपनी लपेट में लेकर समस्त पूँजी के हकदार बनती हैं। प्रगति और विकास के लुभावने वादों के बहाने विकासशील व अविकसित देशों के संपत्ति को लूट लेती हैं। नई-नई बौद्धिक तकनीकों से पूरी दुनिया का नियंत्रक बनकर लगाम खींचती हैं। सूचना क्राँति और इलेक्ट्रोनिक क्राँति से समाज की सोच को बदल डाला। तकनीक ने गरीब देशों को चकित करके अपने वश में कर लिया। उनका पहला और अन्तिम उद्देश्य लाभ कमाना ही है।

'परछाईं नाच' उपन्यास के पात्र 'बौना' साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रतीक है। 'बौना' अनहद को लुभाकर कहता है- "हम सर्वश्रेष्ठ है, हम अनंत शक्तियों के मालिक है। एक दिन ब्रह्माण्ड में सब कुछ हमारा होगा। हमारे तीन डगों में यह अंतरिक्ष, यह धरती, यह पाताल होगा। हम संख्या में बहुत नहीं है पर पृथ्वी पर

फैले इन करोड लोगों को हम अपनी मुट्ठी में रखेंगे। ऐसा हम इसलिए करेंगे, क्योंकि हम जानते हैं कि इनको सिर्फ हम ही सुख कर पाएँगे। इनको भरपेट खाना... कपडे... रहने का मकान.... सेहत.. शिक्षा सिर्फ हम ही दे सकते हैं।"[31] यहाँ बौना समस्त देशों को अपने काबू में रखकर अनुशासन चलानेवाला अमरीका जैसे साम्राज्यशाह का प्रतीक है।

पूँजीवादी शक्तियाँ अपनी योजनाओं को शुभ अंजाम देने केलिए सत्ता के साथ गठबंधन की नीति अपनाते हैं। वे जनता में 'भय' पैदा करके अपने लायक बनाने की कोशिश करते हैं। 'परछाईं नाच' उपन्यास में सब कहीं एक तरह का भय छाया हुआ है। ''अनहद को लगा फिर पसीना आ रहा है। यह भूख का भय नहीं था.. अनहद ने सोचा। भूख का भय खाल के ऊपर नहीं आता.. होठ नहीं सूखते.. ऊँगलियों की पोरे सुन्न नहीं होतीं। भूख का डर खाल के नीचे-नीचे में रेंगता है। बढ़ता रहता है। अँधेरी सीलन में दीमक की तरह। वह अचानक खत्म नहीं होता... जिस तरह भूख अचानक खत्म नहीं होती। ये उन्हीं दोनों के भय से। उन्होंने फिर घेर लिया अनहद को।"[32] किशुंक इस भय को साम्राज्यवादी संस्कृति की उपज मानता है। वास्तव में सामान्य जनता का यही भय साम्राज्यवादियों की ताकत बन जाती है। जिस प्रकार अमरीका अपनी नीति को हर राष्ट्र में कार्यान्वित करना चाहता है और इस उपलक्ष में वे अपने शर्तों व निर्देश अन्य राष्ट्रों द्वारा मजबूरन स्वीकार करने केलिए बाध्य कराते हैं, इसी प्रकार सभी राष्ट्रों पर भय उत्पन्न कराते हुए अपना एकनिष्ठ अधिकार जमाने की कोशिश कर रहे हैं, एक दृष्टि से समान प्रवृत्ति बौना इस उपन्यास में कर रहा है।

4.9 उपभोगवादी मानसिकता

भूमण्डलीकृत समाज में मानव जीवन को अधिक सुख-सुविधाओं में डुबोने की वस्तुओं का उपभोग काफी बढ़ गया है। उपभोग जीवन की बुनियादी ज़रूरत है। उपभोग के बिना जीवन असंभव है। भोजन, कपडे, दवा, किताब, कला, संगीत आदि उपभोग की वस्तुएँ हैं। लेकिन इसके विपरीत आज बाज़ार में ऐसी वस्तुएँ अपना पैर जमाया है जो मनुष्य की मूल ज़रूरत की दृष्टि से उपयोगी नहीं है लेकिन बाज़ार ने इनको ज़रूरी बना दी गयी है जिसके कारण मानव मात्र एक उपभोक्ता बन गया है। अखिलेश 'निर्वासन' में बहुत पैनी निगाह से बाज़ार की चालों का विश्लेषण करते हैं। वे लिखते हैं कि उसके मन में उठा मन्नतें और मौत। शायद इस संसार का तम्बू इन्हीं होरों पर टंगा हुआ है। मन्नतें रक्तबीज की तरह होती हैं। एक के पूरी होने पर अनेक जन्म लेती है और मृत्यु ही उनकी उर्वरता का समापन कर पाती है। दरअसल बाज़ार इन्हीं मन्नतें और इच्छाओं को उभारता है। वह विवेक की जगह इच्छा को केंद्र में लाता है और मनुष्य को एक मशीनी उपभोक्ता में तब्दील कर देता है और उनके उपभोग की ललक मृत्यु के साथ ही समाप्त होती है।

बाज़ार अपनी सुंदरतम भाषा में मनुष्य को अपने जाल में फँसाता है। विज्ञापन की जादू लोगों में एक भ्रम पैदा करता है कि उन चीज़ों के उपभोग से ही हमारा जीवन संपूर्ण होगा। विज्ञापन की चालबाजियों में आकर लोग यथार्थ से मुँह मोड़ लेते है। मनुष्य के स्वाभाविक सौंदर्यबोध को नष्ट करके कृत्रिम सौंदर्य की ओर जाने केलिए किसी भी हद तक उकसाता है। मनुष्य के सीमित ज़रूरतों को सीमाहीन दिखाकर लोगों में असंतुलित उपभोगवृत्ति को जगाने में बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ प्रयत्नरत हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामानों से गाँव-शहर पटने जा रहे हैं। 'निर्वासन' में

सूर्यकान्त ने अपने शहर में आनेवाले परिवर्तन का यूँ ज़िक्र किया है- ''दूकानों की भरमार हो गई है। सडकें टूटी फूटी जिनके दोनों ओर दूकानें ही दूकानें जो बडे-बडे शो रूमों से लेकर छोटी कोठरियों तक में थीं। दूकानों के सामने भी ठेले या पटरी पर कोई कुछ बेच रहा था। थाह लेने पर पता चला कि शहर मोबाइल कंपनियों के विज्ञापनों से रंग हुआ था। उनके सुंदर रंगीन दैत्याकार विज्ञापन स्कूलों, कचेहरी, अस्तपाल, डाकख्राना, रेलवे स्टेशन, बस अड्डा आदि के सामने आगे पीछे मुस्कुरा रहे थे। इनको टक्कर देनेवाला कोई अन्य पदार्थ पृथ्वी पर था तो वह था शीतल पेय। दोनों एक दूसरे से कम न थे लेकिन दोनों में कोई मुकाबला या जीत हार का जोश नहीं था।''[33]

भारत में आज पेयजल की बिक्री ने एक बड़े-व्यवसाय का रूप धारण किया है क्यूँकि विज्ञापन संस्कृति ने हमारे दिलों में अपना जड़ जमाया है। 'परछाईं नाच' में गंगाजल का बोतल बनानेवाला मालिक अनहद जैसे नवयुवक का फायदा उठाकर अपने माल की बिक्री बढ़ाने केलिए विज्ञापन बनवाता है। अनहद पानी की शुद्धता के स्थान पर उसकी पवित्रता पर ज़ोर देता है। उसका मानना है कि शुद्धता सभी कंपनियों का आम दावा है जबकि पवित्रता इस क्षेत्र में एकदम नई और अलग चीज़ होती है। ''हम अपने पानी की शुद्धता पर उतना ज़ोर नहीं देंगे जितना कि पानी की पवित्रता पर। यह एक नया विचार होगा और इस विचार से हम पानी की एक नई ज़रूरत पैदा करेंगे। हमारा पानी धर्म और अध्यात्म का पानी होगा। मनुष्य को देवताओं के लोक में ले जानेवाला... उसके पुरख्रों की तडपती अभिशप्त अतृप्त आत्माओं को मुक्त करनेवाला होगा। यह पानी हर उस आदमी केलिए ज़रुरी होगा जिसके घर में कोई मरनेवाला बूढ़ा है, कोई ऐसा रोगी है जिसका रोग ठीक नहीं

होता है.. दूसरे शब्दों में वह आदमी यह पानी ख़रीदेगा जो प्यास नहीं होगा। यह बिल्कुल नयी बात होगी जब पानी में प्यास ही नहीं होगी। हम उसे दूसरे कारणों, दूसरे प्रयोजनों के लिए ज़रूरी बना देंगे। यह एक नया विचार है जिसके साथ इस बाज़ार पर हमला करेंगे।"[34] यहाँ प्रियंवद ने विज्ञापन के पीछे की सचाई को दिखाई है। कंपनियाँ मनुष्य की मानसिकता का नजायज फायदा उठा रही हैं। धर्म के क्षेत्र में मनुष्य बड़ा नाज़ुक हो जाते हैं। आम जनता के मन में पवित्रता के प्रति जो भक्ति भावना निहित है उस भक्ति भावना का फायदा विज्ञापन का क्षेत्र उठा रहा है। विज्ञापन मानव की उपभोग वृत्ति बढ़ा रहे हैं।

बाज़ार ने मानवीय संबंधों को मनुष्य से अलग करके उसे चीज़ों और उपभोक्ता सामग्री पर निर्भर बनाया गया है। 'निर्वासन' में चाचा के पारिवारिक संबंध दुर्बल है। वास्तव में संबंधों पर हावी होते वस्तु और उपभोक्ता संस्कृति के कारण ही चाचा अपनी पत्नी और बच्चों से दूर रहता है। बाज़ार के पीछे भाग रही पीढ़ी की संवेदनहीनता और संबंध चेतना के ख़त्म होने की प्रवृत्ति को अखिलेश उपन्यास में दिखाता है। चाचा एक अग्रगामी सोच की व्यक्ति हैं लेकिन उनके परिवार के सदस्य भोगलिप्सा और वस्तु मोह में डूबे हैं। जब सूर्यकान्त चाचा से पूछता है कि आप पहले शौकीन इनसान थे। नयी से नयी, महंगी से महंगी चीज़ें ख़रीदकर लाते थे...। माल से मार्कटिंग करते थे फिर आपको क्या हो गया कि साधू बाबा की कुटी बनाकर जोगियों की तरह रहने लगे, तब चाचा कहते हैं "मैं एक भटका हुआ इन्सान था जो बाद में सुधर संभल गया। पहले मैं बेवकूफ यह सोचता था कि साइंस के साथ-साथ चलूँ। नयी से नयी टेक्नोलजीवाली चीज़ों को मैं बडे चाव से ख़रीदकर ख़ुश होता कि मैं माडर्न ख़्यालात का हूँ। यही नहीं, फैशन, मनोरंजन, खानपान,

जीवनशैली सभी में मैं अपने परिवार के साथ नये ज़माने की राह पर टपटपटप बढ़ते जाने का ख्वाहिशमंद था। मेरा दिल चाहता था कि तुम्हारी चाची, मेरे बच्चे दकियानूसी असभ्य और कुए के मेंढक की तरह टर्र टर्र करनेवाले न हों। लेकिन एक दिन मैंने पाया कि अरे, मैं इनको जो नहीं बनाना चाहता था वही बना रहा हूँ। हुआ यह कि एक बार मेरा लीवर काफी बिगड़ गया और मैंने बिस्तर पकड़ लिया पर इन्हें कोई फर्क नहीं पड़ा। ये उसी तरह चाऊमिन, मुर्गा, बर्गर चाभते रहे और डीवीडी लगा लगाकर पिक्चर देखते रहे। तुम्हारी चाची का बाज़ार जाना और थैला भर भर कर आना भी नहीं रुका। उससे भी बुरी बात कोई मेरे पास आकर बैठता नहीं था। पूछता नहीं था कि दर्द तो नहीं है? कई दफ़ा ऐसा हुआ कि इधर मैं तकलीफ से तड़फड़ा रहा हूँ और बगल के कमरे में साले सब मैगी खाते हुए टीवी देख रहे हैं उस वक्त मैंने बेटे से कहा दवा दे दे। वह मोबाइल को होल्ड पर रखकर तमतमाता हुआ आया और दवा मेरे सामने पटक दी। मैं ने कहा- ये दवा नहीं ज़हर दे रहे हो मुझे। वह बोला- 'काश ! वह होता मेरे पास' स्वीकार करता हूँ सूर्यकान्त, मैं अपने को रोक नहीं सका और बीमार कमज़ोर होने के बावजूद गुस्से में तीर की तरह उठा और उसके गाल पर ज़ोरदार पटाका लगाया। इस पर तुम्हारी चाची चिल्लाती हुई आयीं। सारी दवाएं मेरे सिरहाने रख दीं-'खुद ले लिया करो ।' और फिर से टीवी के सामने जाकर अपनी आँखें फोडने लगीं।"[35] पारिवारिक सम्बन्धों को अनदेखा कर बाज़ारी मानसिकता में तब्दील होनेवाले मानव का यथार्थ चित्रण उपर्युक्त प्रसंग में उपलब्ध होते हैं। उपभोगमूलक संस्कृति हमारे जीवन में घुसपैठकर हमारी सारी संवेदना और मूल्यों को नष्ट कर देती है। वह मनुष्य को आत्मकेंद्रित बनाती है। उसकी संवेदनाएँ चैन की खुशी और आनंद तक ही सीमित रह जाती हैं। तब वह मानवता के मूल सिद्धांत सामूहिकता और वसुदैव कुटुम्बकम की संवेदनात्मक

अभिव्यक्ति से वंचित हो जाता है। उसे दूसरों के दर्द की कल्पना भी नहीं होती। मनुष्य अपने परिवार, अपने सगे- संबंधियों अपने समाज, अपनी पारिस्थितिकी और देश दुनिया से कट जाते हैं और वह एकाकी जीवन के आनंद में ही सीमित हो जाता है। गाँधीजी ने तकनीक को अपनी इन्द्रियों का विस्तार माना था किन्तु इन्द्रियों को शिथिल करने का औजार नहीं। मानवीय श्रम के सहायक के रूप में देखा था न कि श्रम के विकल्प के रूप में। लेकिन वर्तमान में उपभोक्तावादी संस्कृति और उसके दर्शन ने मानवीय समाज को अचेतनता की ओर मोड़ दिया है। उदाहरण के रूप में एक ही परिवार में ऊँची छत के नीचे रहनेवाले सदस्यों को मोबाइल ने अनजान बना दिया है और परिवार के बीच की आत्मीयता और आपसी रिश्ते को खतम कर दिया है।

4.10 बुज़ुर्गों की मानसिकता

भूमण्डलीकरण के दौर में संयुक्त परिवार बिखरकर एकल परिवारों में बदल गये हैं। जबसे मनुष्य को वस्तु या उत्पाद के रूप में देखने की प्रणाली अपनायी गयी है तबसे पूँजी ही सब कुछ बन गयी है। आर्थिक रूप से जब तक मनुष्य सबल है तब तक वह उपयोगी है, अन्यथा वह अनुपयोगी या फेंकनेलायक बन जाता है। वृद्धावस्था की यही सच्चाई है कि बाज़ार के पीछे भागनेवालों केलिए वे सिर्फ अनुपयोगी बन जाते हैं। इस प्रकार परिवार में वृद्धों के प्रति संवेदनहीन तथा मूल्य रहित व्यवहार का चित्रण करके समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने उनकी मानसिकता पर भी नज़र डाली है।

चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'गिलिगडु' में सेवानिवृत्त बुजुर्गों की मानसिकता को प्रभावी ढंग से स्पष्ट किया है। उपन्यास के प्रमुख पात्र सेवानिवृत्त बाबू जसवंत

सिंह और कर्नल स्वामी हैं। इन दो पात्रों के माध्यम से किस प्रकार नौजवान पीढ़ी, बुज़ुर्गों के प्रति दुर्व्यवहार कर उन्हें अकेला छोड़ देता है इसका वर्णन किया है। बुज़ुर्गों का आदर करना भारतीय परंपरा रही है। लेकिन वर्तमान युग में बडों के प्रति सम्मान की भावना कम होती जा रही है। ज़िंदगी के तेज़ रफ्तार में उनका ख्याल रखने का भी वक्त नहीं है। सेवानिवृत्त बाबू जसवंत सिंह अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद कानपूर से दिल्ली में अपने बेटे के साथ रहने आये हैं। वृद्धावस्था जीवन का ऐसा पडाव है, जिसमें सहारे की बहुत ज़रूरत होती है। लेकिन बाबू जसवंत सिंह को दिल्ली आने के बाद अपने पुत्र और बहू के व्यवहार से इस बात का पता चलता है कि उनके प्रति बेटे नरेंद्र तथा बहू सुनयना के मन में कोई आदर भाव नहीं है केवल उनकी संपत्ति हड़पने केलिए वे मजबूरन परिचरण करने केलिए तैयार हो जाते हैं। बहू कई बार उनका अपमान भी करती है। पोते को भी उनके प्रति कोई लगाव नहीं था। ऐसे में रिटायर्ड कर्नल स्वामी से उनकी मुलाकात होती है और वह मुलाकात उनमें नयी ऊर्जा प्रदान करती है। दोनों के बीच की मित्रता और अपनत्व की भावना उनकी दोस्ती को मज़बूत बनाती है। जसवंत सिंह को ज़िंदगी बोझ सी लगने लगी थी, जीने के प्रति उम्मीद नहीं बची थी, लेकिन कर्नल स्वामी उनका हौसला बढ़ाते हैं। आशा और प्रेरणा इन मूल्यों से मनुष्य ज़िन्दगी जीता है। कर्नल स्वामी भी यही बात जसवंतसिंह को समझाते हैं। हर बात पर उन्हें प्रेरणा देकर उन्हें एक नयी ज़िन्दगी प्रदान करते हैं। वे हमेशा उनसे कहते थे- ''लिव लाइक शेर''[36] इसी जीवन शैली को ही कर्नल स्वामी ने अपनाया था। वे हर समस्याओं का सामना निर्भयता और संघर्ष से करने की सलाह देते हैं। ''जीवन मुठभेडों से ही जिया जाता है।''[37]

मनुष्य की उपभोगवादी संस्कृति के कारण लोग अपने संस्कारों को भूल जाते हैं। बाबू जसवंतसिंह का बेटा नरेंद्र और बेटी शालिनी उनसे कानपूर के बैंक का लोकर सरेंडर करने केलिए कहते हैं। पैसे की लालच किस प्रकार रिश्तों को ख़तम करते हैं इसका चित्रण हमें यहाँ मिलता है। अपने बच्चों से सारी उम्मीदें थीं वे सब गायब हो जाती है। बेटी के लालचपूर्ण व्यवहार देख्रकर जसवंत सिंह आश्चर्य चकित हो जाते हैं। ''जिस शालू के ठुनकते ही कि बाबूजी इस इतवार को आप हमारे साथ होंगे- बाबू जसवंत सिंह बिना आरक्षण के कानपुर के गाडी पकड़ लेते।''[38] जिन बच्चों को लाड़-प्यार देकर बड़ा करते हैं वे बड़े होकर रिश्तों को पैसे से तौलते हैं। अपने माँ-बाप की इच्छा-अनिच्छा को नज़रअंदाज़ कर देते हैं। बाबू जसवंत सिंह सोचते हैं- ''इस घर में एक नहीं दो कुत्ते हैं- एक टॉमी, दूसरा अवकाश प्राप्त जसवंत सिंह। टॉमी की स्थिति निस्संदेह उनकी बनिस्बत मज़बूत है। उसकी इच्छा-अनिच्छा की परवाह में बिछा रहता है पूरा घार। उनकेलिए किसी को बिछे रहना ज़रूरी नहीं लगता। टॉमी अच्छी नस्ल का कुत्ता है। सोसाइटी में उनके घर का रुतबा बढ़ाता है। उनके चलते उनका रुतबा कलंकित हुआ है। कलंकित होकर अक्षत-चंदन क्यों चढाएँ?''[39] वर्तमान समय में उपभोक्तावादी संस्कृति ने जिस तरह से मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन किया है, उसका उदाहरण उपर्युक्त कथन से पता चलता है। उपभोक्तावादी संस्कृति की ख़ासियत यह है कि वह दिख्रावे और चकाचौंध की तरफ ज़्यादा आकर्षित होती है। नये-नये बाज़ार के उत्पादों और उसकी अनावश्यक आकर्षण को ही जीवन का उद्देश्य समझ बैठता है। नयी-नयी चीज़ों को ख़रीदने तथा उसका प्रदर्शन करने में सफलता पानेवाले ही समाज में स्टाटस के हकदार हैं या स्टाटस के मापदण्ड इसी प्रक्रिया द्वारा आंकी जाती है। यही वजह है तरह-तरह के

आकर्षक लॉण और ई.एम.आइ की चंगुल में युवापीढ़ी अपने जीवन की कमाई को बर्बाद कर देते हैं। जहाँ वे एक कुत्ते को अपना स्टाटस सिंबल मानते है वहीं अपनी माँ-बाप को गैर ज़रूरी चीज़ के रूप में या वर्तमान समय के स्टाटस को ठेस पहचानेवाले चीज़ के रूप में देखते हैं।

बुढापे में अकेले हो जाने की स्थिति 'निर्वासन' में भी मिलती है। सूर्यकान्त की दादी केलिए अपनी जीवनशैली और स्मृतियाँ अपनी ज़िन्दगी की ताज़गी को बनाये रखने का एक ज़रिया था। लेकिन आधुनिक जीवनशैली को वे स्वीकार नहीं कर पाती थी। सभ्य व प्रगति के नाम पर समाज में दिखाई देनेवाली विकासोन्मुख तब्दीली स्वीकारने की मानसिकता दादी में नहीं थी। दादी होने के नाते जो वरीयता और अधिकार नयी पीढ़ियों से मिली रही थी वे सब इस प्रगति और विकास के परिणाम स्वरूप नष्ट हो गयी। टीवी आने के बाद दादी माँ के चारों ओर जो बच्चे बैठे थे वे सब गायब हो गये- "अब कहानियाँ सुनाने केलिए बच्चे उनको घेर कर नहीं बैठते थे, ज़िद नहीं करते थे, उनका सिर दबाकर पैर चांप कर खुशामद नहीं करते थे कहानी सुनाने केलिए। टीवी ने दादी की मांग को, उनकी लोकप्रियता को जीर्ण कर दिया था। इसलिए वह उससे ईष्या करती थीं। वह टीवी देखना छोड़ कर आंगन में बिछी चारपायी पर इस प्रत्याशा में लेट जाती थीं कि बच्चे उनको घेर लेंगे और उनसे कहानी सुनाने की मांग करेंगे। मगर वह लेटे-लेटे सो जाती थीं फिर भी बच्चे उनके पास नहीं आते थे। बच्चे, बडे सब टीवी से चिपके रहते थे।"[40]

4.11 हाशियेकृत समाज की मानसिकता

दलित, आदिवासी, स्त्री, मज़दूर, विकलांग, गाँव के पिछड़े वर्ग, अल्पसंख्यक आदि हाशिये पर रहनेवाले जनसमूह के कुछ उदाहरण हैं। वास्तव में हर वह वर्ग जो

समाज में किसी प्रकार के शोषण और भेदभाव के शिकार हैं, उन्हें हाशिये के लोग कहते हैं। भारत में आज पारंपरिक कला और कलाकारों को भी हाशिये पर धकेल दिये गये हैं। भारत में बहुरूपिया कला बहुत पुरानी है। तकनीक के बढ़ते दबाव ने इस कला और कलाकारों का जीना और मुश्किल बना दिया। मनोरंजन के साधनों की बहुलता और सामाजिक मानसिकता में आये परिवर्तन के कारण उपेक्षित, अनाकर्षक हो गयी इस कला और कलाकारों की कहानी है 'ये दिये रात की ज़रूरत थे'। यह युवा उपन्यासकार कविता का प्रारंभिक उपन्यास है।

सालों पहले यह कला लोगों के आकर्षण का केंद्र रही है। लेकिन आज इसका विलोपन हुआ है। इस कला की बदरंग हो चुकी तसवीर को उपन्यास के इस वाक्यांश से ही समझ सकते हैं- ''रंग अभी भी उसके सामने वैसे ही पड़े हुए हैं, रंगों की खुशबू वैसे ही मादल बनाती हुई। जर्जर और पुराने भले हो चुके हों, पर तरह-तरह के वेष भी है; उसे चुनौती देते हुए से।''[41] बहुरूपियों की वर्तमान स्थिति का वर्णन यहाँ अंकित है। मनोरंजन के तौर-तरीकों में आये बदलावों ने इनकी हालत को बुरा बना दिया है। उपन्यास में इनके वर्तमान स्थिति के ज़िम्मेदार के रूप में कुछ ऐतिहासिक कारण भी दिये गये हैं। कविता को गिरिधर द्वारा दी गयी डायरी में इसका विश्लेषण है-''जातियाँ जरायमपेशा होती है या इंसान? 1871 में ही सरकार से यह पूछना चाहिए था हमें। बहुरूपियों का संकट आज़ादी के बाद पनपा हो, ऐसी बात नहीं है। सन् 1871 के ब्रिटिश उपनिवेश में सरकार ने क्रिमिनल ट्राइब एक्ट नामक कानून बनाया। दरअसल ईस्ट इंडिया कंपनी के समूचे शासन काल में जिन लोगों ने समय-समय पर अंग्रेज़ों और भारतीय सामंतों से लोहा लिया था, उनमें बड़ी संख्या घूमंतू जनजातियों से जुड़े लोगों की थीं। लडाकू भी और क्रांतिकारियों ने भी

अपने छुपने का अड्डा इनके ठीयों और गिरोहों को बनाया। सो अंग्रेज़ों में बहुत ज़्यादा ख़ौफ़ इनको लेकर था। 1871 में इनके दमन को लेकर जो कानून बनाये गये। उनमें राज्य और पुलिस को असीमित अधिकार दे दिये गये। 1871 से 1947 के बीच देश में बहुत से बदलाव आये। आज़ाद भारत की सरकार ने 1952 में इनमें बहुत सी घूमंतू जनजातियों को शामिल करते हुए इन्हें डीनोफाइड तो कर दिया, लेकिन उसके भी सात साल बाद हैबिचुअल ऑफेंडर एक्ट (आदतन जरायमपेशा) नामक एक ओर नया कानून बना दिया जो 1871 के बिटिश कानून से ज़रा भी जुदा नहीं था।''[42] 'यहाँ जातियाँ जरायमपेशा होती है या इंसान'? यह बडा सवाल है। यह मानवाधिकारों के पक्ष में पूछा गया सवाल है। बहुरूपियों की दुर्दशा उपनिवेशकाल में ही शुरू हुई थी। उनके चले जाने के बाद भी उनकी हालत नहीं बदली। प्रतिरोध करनेवालों से राज्य हमेशा ख़तरा महसूस करता है। आज़ादी के बाद भारतीय राज्य भी अपनी कल्याणकारी भूमिका से पीछे हट गया था। घूमंतू जनजातियों को जन्मजात अपराधी सिद्ध करने केलिए कानून बनाया। जातियों को राज्य ने जरायमपेशा घोषित करके मानवाधिकार का उल्लंघन किया है। इन जातियों केलिए आज भी संवैधानिक मूल्यों से कोई मतलब नहीं है।

उपन्यास में मुख्यधारा से धकेल दिये गये जातियों के प्रति सामाजिक व्यवहार का वर्णन इस प्रकार किया है- ''भेजा था न कुछ बड़े-बड़े सपने देखनेवाले माँ-बाप ने अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में। फायदा क्या मिला इसका! वहाँ के टीचर इन्हें क्लास के बाहर बिठाते थे। और अगर किसी बच्चे का कुछ भी गुम हो जाये तो सजा हमारे बच्चों को ही दी जाती। चोर होने का सरकारी मुहर जो लगा हुआ है हमारे माथे पर। दिन भर तपती धूप में खड़ा कर देने से ही शिक्षित हुआ जाता है

तो हमारे बच्चे ऐसे ही ठीक है।''[43] रोशनी सोचती है कि इक्कीसवीं सदी आने-आने को है और इस बस्ती के नैनिहाल स्कूल तक नहीं जा पाते। क्या होगा इस देश के भविष्य का। सूर्यनगर में विकास के सूर्य की किरण तक नहीं पहूँचा है। सुदामा बहुरूपिया उनकी पीड़ा को इस प्रकार व्यक्त करता है- ''दुनिया हम जैसे कलाकारों की नहीं। मार दिया जाता है हमारे युवकों को। उठा लेते हैं बेटियों को जैसे कि मेरे बच्चों...।''[44] कृष्ण प्रताप के बेटे ने गुण्डों से मिलकर उनकी बेटी को उठवा लिया था और बेटे को गोली मार दी। यह हमारा समाज का सत्य है। हमारे संविधान और लोकतंत्र इन उपेक्षित, वंचित लोगों के पक्ष में नहीं रहते। उनकी पीड़ा, उनकी ज़िंदगी के बारे में कोई नहीं सोचता। सुदामा के शब्दों में- ''अब कोई कृष्ण सुदामाओं के दुःख की नहीं सोचता। दूसरों का रूप-रंग धर धरते खेल दिखाते-दिखाते सब खेल बिखेर दिया। खुद का जीवन ही खेल कर दिया। सब खो दिया-अपना रंग-रूप, परिवार, सब... अब ऐसी कलाकारी का क्या काम!''[45]

आजकल पूरा समाज ही वेष बदलना शुरू कर दिया है। उनके बीच में बहुरूपियों की कद्र कम हो गयी है। यह उनका पेट का सवाल भी है। गिरधर की पत्नी रूपल अपने बच्चों को बहुरूपिया कला सिखाने की बात करती है, लेकिन इसे उनकी आजीविका का साधन नहीं बनाना चाहती। रूपल इस कला की उपेक्षा एवं यातना से परिचित है। वह समझती है कि समय के साथ चलना चाहिए लेकिन कला का संरक्षण भी होना चाहिए। वह कला के संरक्षण और आजीविका को अलग करके देखती है। वह कहती है- ''मुझे इस पेशे से कोई दिक्कत नहीं, पर मैं समझती हूँ कि इसे कमाई का ज़रिया नहीं बनाया जा सकता। इसके बल पर पेट और ज़िंदगियाँ नहीं पाली जा सकती। मैं अपने बच्चों को ज़रूर सिखाऊँगी यह

कला, पर उनकी आजीविका का साधन यह नहीं होगा। मैं बिलकुल भी नहीं चाहूँगी कि पढ़ने-लिखने के बाद मेरे बच्चे इस कला का तिरस्कार करें। इसे हेयदृष्टि से देखें। उन्हें बहुरूपिया कहलाने और बनने में शर्म हो। उन्हें जिस दिन रूप धरने में दिक्कत या परेशानी हुई, उसी दिन अपना वारिस मानना छोड़ दूंगी।''[46]

उपन्यास में स्वाधीनता संग्राम में बहुरूपियों की भूमिका का वर्णन भी हुआ है। हमारे देश के 85% हाशिये के लोगों ने इसमें बढ़ चढ़कर भाग लिया था। उनके हिस्सेदारी के बिना यह क्रांति सफल कैसे हो सकती है। लेकिन हाशिये के लोगों की भूमिका इतिहास में, कहीं नहीं मिलती। उपन्यास में जिस डायरी का ज़िक्र हुआ है उसके लेखक सिद्धार्थ एक स्वतंत्रता सेनानी और बहुरूपिया शिव के मित्र के रूप में चित्रित है। वह वेश बदलकर जनता को जागृत कराने की कोशिश करता था। ऐसे बहुरूपिया लोगों को हमारे देश के कानून और समाज दोनों असंवेदनशील रहे हैं। इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका मनुष्यता को नष्ट करनेवाली वर्चस्व की संस्कृति पर प्रहार करती है।

4.12 युवा मानसिकता

किसी समाज या राष्ट्र की ऊर्जा का अनुमान उसकी युवा शक्ति से ही लगाया जाता है। राष्ट्र के मनोबल की पहचान भी समाज के युवा शक्ति से तय की जाती है। बदलते समय में युवापीढ़ी आज ज़्यादा बंधनमुक्त हो गये हैं। युवा लेखक भी ज़्यादा मुक्त होकर लिख रहे हैं। आज के युवा लेखक समय की नब्ज़ को ज़्यादा पकड़ रहे हैं। समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने युवा मानसिकता को सही ज़मीन पर खडे होकर देखा और पहचाना है और युवा मानसिकता के हर पहलुओं को पैनी दृष्टि से जांचने-परखने में सफल हुए हैं।

आज पूरी युवा मानसिकता बाज़ार के पंजों में जकड़ी हुई है। प्रियंवद के 'परछाईं नाच' में अनहद और किंशुक शिक्षित युवापीढ़ी के दो पहलू है। अनहद अपनी अस्मिता और परंपरा को भूलकर बौना और नुकीले दाँतवाला जो बाज़ार और सत्ता का प्रतीक है उनके चंगुल में अपना सिर रख देता है। अनहद एक ऐसी युवा पीढ़ी का प्रतीक है जो हमारी, संस्कृति, धर्म और अध्यात्म को बेच रहा है। वह गंगा के पानी को प्यास से अलग करके बेचता है। धर्म और अध्यात्म के नाम पर संबंधित चीज़ों को बेचकर मुनाफा कमाने की मानसिकता वर्तमान पीढ़ी में प्रबल होती जा रही है। इतना ही नहीं सत्ता और व्यवस्था के आगे सिर झुकाकर उनकी कठपुतली बन रहा है। बौना और नुकीले दाँतवाले अनहद को अपनी मर्ज़ी के अनुसार ढ़ालने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन किंशुक साम्राज्यवादी ताकतों और उनके कार्यकलापों से हर क्षण सावधान रहता है। उसने अपने जीवनानुभवों से "धूर्तता... षड्यंत्र.... अपराध को बहुत सधे हुए तरीके से वर्चस्व बनाते हुए देखा, सब कुछ नियंत्रित करते देखा। पैसे की भाषा, उसकी ताकत, उसके अमर्त्य अमृत कुण्डों को देखा। उसकी भूख, उसका मायाजाल, उसका सम्मोहन देखा। इन सबके बीच कीडों की तरह पैदा होते पलते-मरते असंख्य इन्सानों को भी देखा।"[47] आज हमारे समाज में किंशुक जैसे नवयुवकों की ज़रूरत पड़ती है। आज के युवा भीड़ में तब्दील होकर सत्ता की कूटनीति में अपने को समर्पित कर रहे हैं। बौने और नुकीले दाँतवाले का असल मक्सद क्या है यह पहचानने में अनहद नाकामयाब हो जाता है। वर्तमान पीढ़ी की बुद्धिमता और सोचने की क्षमता इतनी कमज़ोर हो गयी है।

"क्या बौना चिंगारिया का आदमी हो सकता है?"

"पता नहीं"

"अगर वह चिंगारिया का आदमी है तो फिर ये दो कौन है जो यहाँ आये थे?"

"पता नहीं"

"अगर ये तीनों एक है तो वह तुम्हारे पास क्यों आ रहा है?"

"पता नहीं"

"या शायद वह बौना ही न हो... लोगों को लगता हो कि वह बौना है?"

"पता नहीं"[48]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि आज की युवापीढ़ी ने एक मशीन में तब्दील होकर उसकी सोचने की, तर्क करने की तमाम क्षमता को नष्ट कर दी है। यहाँ अनहद एक ऐसी पीढ़ी की प्रतिनिधी चरित्र है जो समकालीन सामाजिक मुद्दों से और सामाजिक सरोकारों के प्रति कोई ख़ास लगाव नहीं रखती। वे किसी प्रकार के समस्याओं में उलझना नहीं चाहते। वे एक दम स्वार्थी बनकर अपने में सीमित रह गये हैं। उपन्यास में किंशुक ही अनहद को सोचने पर मज़बूर करता है और उसका मार्गदर्शक बन जाता है।

बाज़ार के चाकचौंध में रम गयी पीढ़ी का चित्रण अखिलेश के 'निर्वासन' में मिलता है। आज युवा लोग पैसे के चक्कर में किसी भी हद तक गिरने को तैयार होते हैं। 'निर्वासन' में देवदत्त, कामना, नूपुर, शिब्बू, चाची और उनके बच्चे आदि पात्र या गोसाईंगज के तमाम जाति समूह, सभी के मानवीय संबंध पैसे से तय होते हैं। सब अमरीका जाने केलिए आतुर रहते हैं। गोसाईंगज के पूरे गाँववाले अमरीका पाण्डे को अपने रिश्तेदार बनाने केलिए गप्प कथा बनाते हैं। वे अपने जाति बदलने केलिए भी तैयार होते हैं। वे अमरीकी पूँजी के प्रभाव में आकर अपने मान-मर्यादा,

परिवार सब छोड़कर अमरीका जाने का सपना देखते हैं। सवा सौ साल पहले अमरीका पाण्डे के बाबू भगेलू पाण्डे को अकाल और भूखमरी ने ही अपनी ज़मीन से निर्वासित किया था। हालत इतनी बुरी थी कि वे भूख और अकाल के कारण अपने परिवार, गाँव और देश को छोड़ने केलिए अभिशप्त हुए थे। जीवन और प्रकृति की मार झेलते हुए गिरमिटिया मज़दूर बनकर सूरीनाम जाना पड़ा था। वही, सवा सौ साल बाद गोसाईंगंज और सुलतानपुर में हालत यह है कि पढे-लिखे, अनपढ़ और हर आदमी का सपना हो गया है अमरीका जाना। उसे अब अपना देश पसंद नहीं आ रहा है। उपन्यास का एक पात्र शिब्बू कहता है- ''आज के सभी लड़के-लड़की पासपोर्ट बनवा चुके हैं या उसकेलिए अप्लाइ कर चुके हैं। इंडिया में कोई सड़ना नहीं चाहता, हर कोई अच्छी लाइफ मांगता चाचा।''[49] भयानक विडंबना यह है कि गुलाम भारत का नागरिक यातना और धोखे से देश से निर्वासित किया गया था। लेकिन आज के नागरिक अपनी मर्ज़ी से, उम्मीद से, खुशी से अपने देश छोड़कर बाहर जाना चाहते हैं।

आज की युवा पीढ़ी में रिश्ते-नातों से लेकर, योग, आयुर्वेद, धर्म, संस्कृति सबको बाज़ार में बेचने की मानसिकता होती है। 'निर्वासन' में आयुर्वेद के डॉक्टर तेंदुलकर आयुर्वेद को अमरीका में बेचना चाहता है। वह आयुर्वेद को- ''अमरीका में सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी मानता है।''[50] वह कहता है- ''अगर अपने को बेचने का शउर हो तो आज की दुनिया में क्या नहीं बेचा जा सकता है। बस आपको चाहिए एक चांस और खुली भरीपूरी दुनिया। इंडिया में मजबूर हूँ क्योंकि यहाँ लोग अपनी विरासत पर नहीं पश्चिम के पीछे पागल हैं। इसलिए यहाँ आयुर्वेद की कोई औकात नहीं है। लेकिन जिस धरती पर आधुनिक साइंस और विचार अपनी बुलंदी

को पार कर चुका है वहाँ इसका सुंदर सुदृढ़ भविष्य है। मैं कहता हूँ कि योग, गाँधी और आयर्वेद इन तीनों का बहुत बड़ा विश्व बाज़ार बाट जोह रहा है। भारत को और कुछ नहीं करना चाहिए बस इन तीनों का व्यापक पैमाने पर निर्यात करना चाहिए। भाई साहब आप मेरी मदद करें, मैं पांडेजी के सहयोग से उनसे भी बडा अमीर बनकर दिखा दूंगा।"[51] नब्बे के बाद भारत की मुक्त अर्थव्यवस्था के परिणाम स्वरूप व्यापार को केंद्र में रखकर कई योजनाएँ बनायी गयी थीं। इसका परिणाम यह हुआ था कि सबकुछ बिकाऊ उत्पाद के रूप में दिखने लगा। 'शाइनिंड इंडिया' जैसे नारे बाज़ार को मज़बूत करने के लिए बनाये गये थे। आज की युवापीढ़ी भी बाज़ार एवं बाज़ार के उत्पाद को सशक्त करने में अपने मेधा एवं ऊर्जा का दुरुपयोग कर रहे हैं। पाँच साल इंजीनियरिङ की पढ़ाई करने के बाद बड़े-बड़े कंपनियों के सी ई ओ याने प्रबंधन की तरफ आकृष्ट हो रहे हैं। विडंबना तो यह है कि बाज़ार के प्रति उनका आकर्षण और उनका दोहन भी सहज तरीके से होता है जिसे वे समझने में असमर्थ रह जाते हैं।

युवा मानसिकता पर चोट पहूँचानेवाली बात है बेरोज़गारी की समस्या। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार शिक्षा व्यवस्था में मौजूद विसंगतियाँ जिनके परिणामस्वरूप आज समाज में बढ़ती जा रही बेरोज़गार शिक्षित युवाओं की ओर इशारा करते हैं। मनोज सिंह के 'होस्टल के पन्नों से' उपन्यास में एक राजनीतिज्ञ बोलता है- "जब हज़ारों छात्र बेवकूफ बनते हैं तो देखकर दुःख होता है।..... गधे-घोडे सबको डिग्री दे दी... पढे-लिखे बेरोज़गारों की लंबी फौज खडी कर रहे हैं... उनमें असंतोष भड़केगा तो उसका फायदा भी यही उठाएंगे.. असल में सभी इंजीनियर, डाक्टर बनना चाहते हैं। सबको मोबाइल, मॉल और मस्ती चाहिए...

सपने चाहिए... रोक के देखो... आपको एक भी साथ खडा नहीं मिलेगा..."[52] आज की स्थिति यह है कि एक तरफ जहाँ डिग्रियाँ आसानी से मिल जाती है वहीं दूसरी तरफ यथार्थ मेधावी छात्र जो पढे-लिखे हैं अपने क्षेत्र के विषय विशेषज्ञ है उन्हें नौकरी नहीं मिल रही है। इस रूप में बेरोज़गारों की लंबी फौज दोनों तरफ बढ़ रही हैं। एक उनकी, जो येन केन प्रकारेण डिग्रियाँ हासिल कर रहे हैं और दूसरी उनकी, जो असल में नौकरियों के काबिल हैं। ये सिर्फ शिक्षा व्यवस्था पर ही प्रहार नहीं करते बल्कि सरकार और नीति बनानेवाले नेताओं के ऊपर भी है। वे देश में रोज़गार उत्पन्न करने में असमर्थ साबित हो रहे हैं। देश में बेरोज़गारों की फौज लगातार बढ़ने के पीछे की मूल समस्या बाज़ार, अर्थतंत्र और राजनीति का गठबंधन ही है। आज पूरी जगत अपने पैसे के दम पर राजनीति को प्रभावित करती है जिसके परिणाम स्वरूप राजनीति जनकल्याण की नीतियों या देश की मूलभूत समस्याओं से विमुख हो जाती है। उत्पादन के क्षेत्र सीमित होते जा रहे हैं और सेवा क्षेत्रों की भरमार होती जा रही हैं ऐसे में नौकरियों का समेकन कुछ खास क्षेत्रों तक ही सीमित रह जाता है जैसे बाज़ार से संबंधित क्षेत्र, IT क्षेत्र और प्रबंधन आदि। ऐसे क्षेत्र ही नियोक्ताओं के पसंद बन गये हैं। बाज़ारोन्मुख व्यावसायिक शिक्षा उत्पादन और अन्य मूलभूत क्षेत्रों से दूर होते जा रहे हैं। मसलन कृषि, मानविकी, समाजविज्ञान या स्थानीय स्तर पर रोज़गारोन्मुख स्थितियों को उत्पन्न करने में सरकार असफल हो जाते हैं। इस प्रकार बेरोज़गार युवा पीढ़ी में अल्पांश मजबूरन मार्ग भ्रष्ट होकर गैर सामाजिक गतिविधियों में शामिल हो जाते हैं तथा सरकार तो इन युवा पीढ़ियों को बडी संख्या में नौकरी प्रदान करने के उत्तरदायित्व से मुँह मोड लेती है।

देश के सर्वांगीण विकास की जगह कुछ ख़ास क्षेत्रों में देश नयी ऊँचाइयों के क्षितिज को छू तो पा रहे हैं किंतु मूलभूत समस्याओं की विकरालता के कारण इसका असर फीकी पड़ पाती है। उदाहरण के तौर पर तकनीकी क्राँति के क्षेत्र में मोबाइल और इंटरनेट आज घर-घर पहूँच चुका है। लेकिन इसके दुष्परिणाम ही ज़्यादा देखने को मिल रहे हैं। इसकी क्रियाशील क्षमता के उपयोग की जगह इसका दुरुपयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। 'होस्टल के पन्नों से' उपन्यास में लेखक कहता है- "लैपटोप, इंटरनेट, मोबाइल ने सबको अकेला कर दिया है। अब लडकों में वो संबंधों और आत्मीयता नहीं बची है।"[53] मीडिया और तकनीक का शकार बन रही नवपीढ़ी की स्थिति यही है कि उसे दूसरों के प्रति कोई संवेदना नहीं होती है, किसी के दुःख, दर्द या ख़ुशी से उनका कोई मतलब नहीं रह गया है। अगर मीडिया का प्रयोग शैक्षणिक क्राँति, बैंकिग व्यवस्था, जनवितरण प्रणाली या जीवन के अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों में किया जा सकता है। किंतु इसका प्रयोग अधिकांशतः समझने की क्षमता को कम करने में लगा देते हैं। ये सामाजिक संबंधों, व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों व्यक्ति-समष्टि के संबंधों को जोड़ने की बजाय तोड़ लेती है। मानवीय रिश्तों आसपडोस के प्रति संवेदनशीलताओं और जीवन के विविध आयामों के प्रति संवेदनशीलता को कुंद करती है। इसके माध्यम से अफ्वाह, दुष्प्रचार, नफरत और साम्प्रदायिका को भी उतनी ही तेज़ी से किसी सच्ची घटना को फैलाया जा सकता है। तकनीक का यह क्रांतिकारी स्वरूप वास्तव में अपने आप में निरपेक्ष है किंतु इसकी सापेक्षता या इसके सकारात्मक या नकारात्मक परिणाम उसके प्रयोगकर्ता के ऊपर निर्भर करता है।

आज ऐसे युवा पीढ़ियों के दल भी देख सकते हैं जो उचित मौके पर न्यायपूर्ण माँग केलिए संगठित होकर उसकी अंजाम की परवाह किए बिना प्रतिरोध करने केलिए तैयार रहते हैं। कई आन्दोलन सोशियल मीडिया के द्वारा भी घटित होते हैं। यहाँ नवपीढ़ी सोशियल मीडिया के सकारात्मक पक्ष को ही अपना रहे हैं। 'होस्टल के पन्नों से' उपन्यास में दुष्यंत के दोस्त अरुण के कोचिंग इन्स्टिट्यूट में पुलिस झूठा इलजाम लगाकर जब उसे गिरफ्तार करने आये, तब छात्रों ने घेरकर पुलिस को भगाया। झूठा इलज़ाम यह था कि उनके इन्स्टिट्यूट में बच्चों को ड्रग्स बाँटे जा रहे हैं। असल में दुष्यंत जो ड्रग्स के स्रोत को रोकने की कोशिश की, उसके दोस्त होने के कारण ही पुलिस ने अरुण पर हमला किया। हमारी युवा शक्ति को नष्ट करनेवाले ड्रग्स के प्रभाव को रोकने की कोशिश किया था दुष्यंत ने। सत्ता और मीडिया ने उसे अपराधी घोषित किया। लेकिन दुष्यंत को बेगुनाहकार स्थापित करने केलिए जिन दोस्तों ने सहायता की, उनको भी सत्ता बर्बाद करने की कोशिश करती है। जो अपराधी है वे खुले आम घूम रहे हैं। ऐसे मौके पर ही छात्र संगठित होकर इनके खिलाफ आवाज़ उठाते हैं। समाज में ऐसी पीढ़ी की ज़रूरत है जो किसी अपेक्षित क्षण में जाग उठकर एक जुट होकर अन्याय के प्रति न्याय की माँग करते हुए स्वयं के बलिदान केलिए तैयार होती है। और न्याय की संस्थापना केलिए प्रत्यक्ष रूप में तन मन से प्रतिरोध करने केलिए तैयार होते हैं।

4.13 प्रतिरोधी मानसिकता

अन्याय और शोषण जब घटित होते-होते परंपरा का अंग बन जाए तब इसकी पहचान आसान नहीं रह जाती। इस जटिल समय में समुचित पहचान भी आसान कार्य नहीं है। जब एक रचनाकार अन्याय और शोषण की विरासत को पहचानने

लगता है तो वह उसके विरुद्ध संघर्ष का सामर्थ्य भी अर्जित करता है और उससे संघर्ष करने का आह्वान भी देता है। साहित्य में वास्तव में विरोध की, प्रतिरोध की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ध्वनियाँ विद्यमान होती हैं। लेखक मनुष्यता के पक्ष में लिख रहे हैं और मानव विरोधी शक्तियों से प्रतिकार कर रहे हैं। आज का साहित्य लोकतंत्र की पहचान का साहित्य है। लेखक प्रतिबद्धता के साथ बदलाव को लक्षित करते हुए लेखन कर रहे हैं। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार अपने चतुर्दिक व्याप्त भ्रष्ट व्यवस्थाओं के प्रति तीव्र रोष प्रकट कर रहे हैं। वे उस व्यवस्था से समझौता न कर उसे बदल देना चाहते हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यास उपभोगवादी संस्कृति के प्रतिपक्ष तैयार करते हैं। उपभोगमूलक संस्कृति के कारण पारिवारिक संबंधों में शिथिलता कहाँ तक पहूँची है, ये हमने, 'निर्वासन' में देखी है। 'निर्वासन' में चाचा, 'हलफनामे' में सुदर्शन आदि ऐसे पात्र हैं जो मानव को आत्मकेंद्रित बनाती, सामूहिकता को खत्म करती, अचेतनता की ओर ले जाती उपभोक्तावादी संस्कृति के खिलाफ एक अलग तरह के अहिंसात्मक प्रतिरोध करते हैं। विकास के नाम पर पूरी दुनिया बाज़ार के नगण्य उत्पाद में तब्दील होते जा रहे हैं। 'हलफनामे' में सुदर्शन कहता है- ''विलास और विकास ये दो शब्द है जिनमें 'क' और 'ल' का अन्तर है, यानी कल का भेद। अजीब बात है न हमारी संस्कृति ने कलयुग की कल्पना में 'कल' इस्तेमाल किया.... कल का युग जो असत् और दुराचार का योग है। ऐसा क्यों? पर कल भी दो तरह के हैं, एक जो बीत गया, दूसरा जो आनेवाला है। ... कल की यात्रा विकास से विलास की यात्रा बन गई है। इंसानी जतन का स्वप्न-आदर्श विकास है, होना चाहिए। यह परिभाषा की बात है, अपने में इसका कोई मूल्य नहीं। पर इंसान की

लालसा विलास बन जाती है। विकास और विलास के बीच भेद करना, उसके मध्य विभाजन रेखा खींचना बहुत बडी विपत्ति है। विपत्ति है, क्योंकि नामुमकिन है।"[54]

यहाँ सुदर्शन कहता है कि मानव विकास के नाम पर विलास करके विनाश की तरफ जा रहे हैं। बाज़ार ने गैर जरूरी चीज़ों को भी ज़रूरी बना दिया। ज़ाहिर की बात यह है कि हम अनावश्यक चीज़ों से घिर गये जिसके बगैर भी काम चलता था। सुदर्शन यह भी कहता है- "एक दिन मैंने फ्लैट में इक्ट्ठी वस्तुओं को गिनना शुरू किया, एक सिरे से... चीन जिन चत मैं गिनता रहा, ग्यारह हज़ार तक गिना, तब भी वस्तुएँ बची थीं, कब यह अनगिनत बोझ मैंने लाद लिया था, मुझे याद तक नहीं था। संसार के विलास में यह मेरा योगदान था; तन में, मन में असंख्य सतहें बन गई थीं, जो मूल और इकहरा था दब गया था.. उसे ढूँढना सर्वोपरि बन गया। तब बुहारने का दौर शुरू हुआ जैसे पेड़ से पत्ते झरते हैं, पक्षी के पंख टूटते हैं... मेरेलिए वस्तुओं की संख्या सीमा अब पाँच सौ है, इस नियम का हर सूरत में अमल करता हूँ।"[55] यहाँ स्पष्ट है कि सुदर्शन विलास में गुम गये समाज को पहचान कर रहा है। वह उसे कलयुग का नामकरण दे रहा है। समाज केलिए सुदर्शन एक ऐसा अजूबा आदमी है जिसके बारे में तरह-तरह के अफ्वाहें हैं। समाज उस सच को सुनने केलिए तैयार नहीं होते। यह सत्ता की नीति होती है कि ऐसे लोगों को हाशिये पर धकेल देना। यह सर्व प्रचलित मान्यता है और समाज का प्रतिनिधि ढंग है कि जो व्यवस्था के विरोध में काम करता है उसको अपराधी बनाना या उसको पागल घोषित करना।

इस प्रकार 'निर्वासन' में चाचा भी वक्त का आलोचक है। चाचा भी समृद्धि और ग्लैमर की आड़ में जल, जंगल और ज़मीन को तबाह करने की साज़िशों से

वाकिफ है। वह कहता है- "विकास विकास विकास...। आजकल विकास अपने आप में साध्य हो गया है। मैं कहता हूँ कि साध्य है मनुष्य की बेहतरी और विकास इसका उपाय है लेकिन इन दिनों पहिया उल्टा घूम रहा है। मनुष्य की बेहतरी जाये चूल्हे भाड़ में किंतु विकास ज़रूर हो। इन्सान का भीतर चाहे जितना बरबाद हो पर बाहर खूब चमक हो। ये विकास दरअसल लूट खसोट है। इसे फ़िक्र नहीं कि भविष्य में दुनिया कितनी तबाह होगी, धरती विनाश के कगार पर खडी होगी। रोशनी, अन्न, पानी, हवा सबके लाले पड जायेंगे। तब इस विकास को लेकर आदमी चाटेगा।"[56] सुदर्शन की तरह चाचा भी अपने घर में ज़रूरत भर की चीज़ों (जो हमारे समाज से धकेल दी गयी हैं) का ही उपयोग करते हैं। जहाँ मिट्टी की दीवारें, मिट्टी की फर्श, सिल-लोठा, लालटेन, सूप, सिकहर पर दूध आदि सभी देसी सामान भरे थे। जब सूर्यकान्त चाचा से यह पूछता है कि कहाँ-कहाँ से ऐसी चीज़ें इस घर में रखे हो जो अब गायब हो चुकी हैं तब चाचा का जवाब था- "वे गायब नहीं हुई हैं। वे अपनी अपनी जगह से धकेल दी गयी हैं। मैं समझ रहा हूँ तुम्हारी बात। ये देसी आम, ये बरतन, ढिबरी, लालटेन, ये सिकहर, ये सिल लोढा, ये सब इसी भारत देश में हैं पर अपनी-अपनी जगह से धक्का दे दिये हैं। ये ऐसे अंधेरे में गिर गये हैं कि तुम लोगों को दिखायी नहीं देते। पर ये हैं।"[57]

चाचा ने अपने घर की दो सौ वर्ग मीटर ज़मीन पर पेड़-पौधों का संसार निर्मित किया है। यहाँ लेखक चाचा के माध्यम से दुनिया केलिए एक विकल्प पेश करता रहा है। पर्यावरण संकट के बारे में सचेत कराना ही पर्याप्त न मानकर मुक्ति पाने के तरीकों पर भी गहराई से सोच गया है। लेखक विकास की वजह से किसानों और हाशिये के लोगों के विस्थापन का प्रश्न खडा करता है। कथित विकास

ने मनुष्य की जिस सहजता और मनुष्यता को नष्ट कर दिया, जीवन की जिस सुंदरता को छीन लिया, लेखक उसकी याद दिलाता है।

धार्मिक आडंबरों और कर्मकांड के नाम पर संपूर्ण स्त्री समाज पर आरोपित खतना जैसी पितृसत्तात्मक आचार संहिता का प्रतिरोध जयश्री रॉय के 'दर्दजा' में देख सकते हैं। आधे-अधूरे होने को अभिशप्त, हर तरह से लाचार स्त्री किस तरह का प्रतिरोध कर सकती है उसका जीवंत उदाहरण उपन्यास में आदी से अंत तक मौजूद है। यहाँ स्त्री खतना पितृसत्तात्मक मूल्यों का वीभत्स क्रूरतम प्रारूप है जिससे स्त्री गाय-बकरियों की सी निरीह ज़िंदगी जीने केलिए मज़बूर हो जाती हैं। उपन्यास में माहरा प्रतिरोध करती है। हर प्रतिरोध में विफल होने के बावजूद भी फिर-फिर खडे होने का हौसला रखती है। स्त्री-जीवन की तमाम तकलीफ़ों से मुक्ति पाकर मनुष्य की तरह जीने का सपना देखती है। खतना से ही नहीं, बारह-तेरह साल की उम्र में बूढों के साथ शादी और तदुपरान्त उस अपरिपक्व देह का माँ बनना आदि उस शरीर को तहस-नहस कर देता है। उपन्यास में महारू नामक एक पात्र है जो कम उम्र में प्रसव के दौरान मूत्राशय को गहरी चोट पहूँचती है, जिसे मूत्राशय से हमेशा पेशाब रिसता रहता था। ऐसे बच्चियों को अपने परिवार से कटकर अलग झोंपडी में रहना पडती थीं। सब उनको देखते ही नाक-भौ सिकोडने लगते थे। माहरा के मेहँदी के दिन माहरू अपने एकान्तवास से बाहर निकल आकर प्रतिरोध करती है। वह पूछ रही है-"मैं क्यों जाऊँ उस वनवास में, तुम सब जाओ... करे कोई और भरे कोई! बदबू आती है मुझसे? घिन आती है? आने दो! मेरे तो शरीर से बदबू आती है, तुम सबकी सोच से बदबू आती है, रूह से बदबू आती है, तुम सबके सब सड़ गये हो... कीडे पड गये हैं तुम सबमें....। .. आज जिस शरीर से

सोना झर रहा है ना, कल उसीसे पेशाब रिसेगा... कोख छलनी हो जायेगी, चारों तरफ़ बडा-बडा छेद पड जायेगा.. फिर देखना, यही सिर आँखों पर बैठानेवाली लोग कल तुझे भी खाज खायी कुतिया की तरह दुरदुरायेंगे..."[58] सुन्ना की वजह से लड़कियाँ इस प्रकार के संक्रामक बीमारियाँ झेलने को मजबूर हो जाती हैं। माहरा को शादी के बाद बूढे ज़हीर के पाशविक आतंक सहनी पडी थी। दिन-रात का आतंक उसकी गर्भवती होने पर भी ज़ारी रहा। "एक समय के बाद मैंने समझा था, मेरी चीखें, सिसकियाँ ज़हीर को एक पाशविक आनन्द से भर देती हैं। यह उसकेलिए उद्दीपन का काम करते हैं। वह और उत्तेजित हो उठता है। उसके इस स्वभाव को समझते ही मुझमें एक ज़िद भर गयी थी- अपनी तकलीफ़ से मुझे निज़ात नहीं मिल सकती, मगर उसे भी मैं कम से कम अपनी तरफ़ से खुश होने का मौका देना नहीं चाहती थी। दाँत भींचकर चुप पड़ी रहती थी।... ज़हीर मुझे पीड़ा पहूँचाने केलिए और निर्मम हो उठता। मैं फिर भी खामोश रहती। मेरे इस व्यवहार से ज़हीर का उत्साह ठंडा पड़ जाता। वह चिढ़कर कहता- चीखो! चीखती क्यों नहीं? तुम्हें दर्द हो रहा है ना? और अन्ततः झल्लाते हुए चला जाता। यही मेरी जीत थी-उसे खुश न होने देना! दर्द से सारी देह लथपथ होती मगर अपने तई एकदम से हारी नहीं थी। एक लड़ाई, एक प्रतिरोध, चाहे वह कितना भी कमज़ोर, नगण्य क्यों न हो, मेरी तरफ़ से ज़ारी थी और इसी में मेरा तिल मात्र सुख निहित था।"[59] माहरा की हर सिसकियाँ ज़हीर को आनंद से भर देती थीं, यह जानकर माहरा बिना उफ किए सबकुछ बर्दाश्त कर चुप रही, उसकी तरफ़ से यह एक प्रतिरोध था। फिर हज के दौरान मची भागदौड़ मे ज़हीर के मारे जाने की खबर प्राप्त होने पर माहरा का न रोना या जुब्बा, माहरा, मासा का घर छोड़ भागने की कोशिश आदि सब स्त्री प्रतिरोध की विभिन्न छवियाँ है।

डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार ''भारतीय समाज के यथार्थ का एक पक्ष है: भारतीय समाज में स्त्री की पराधीनता, उसका शोषण और दमन, उन सब स्थितियों से मुक्ति की उसकी आकांक्षा और कोशिश। इन सबकी अभिव्यक्ति हिन्दी की लेखिकाओं में हुई है और हो रही है।''[60] इस संदर्भ में अल्पना मिश्र का उपन्यास 'अन्हियारे तलछट में चमका' सफल उपन्यास है। बिट्टो, सुमन, मौसी, ननकी जैसे पात्र स्त्री जगत के अनुभव को बहुआयामी बनाकर पितृसत्ता के क्रूर व्यवहार के प्रति आवाज़ उठाने का ज़मीन तैयार करता है। लेखिका ने प्रतिरोध करती सुमन के उद्‌गार को इन शब्दों में व्यक्त किया है -''पिशाच आदमी है, नरपिशाच है। औरत को इनसान नहीं समझता है। औरत क्या है? देह भर है? जैसे चाहा मसला, रौंदा? जो चाहा, किया? औरत आवाज़ उठा दे तो बहुत बुरी.... औरत के नसीब में कहाँ अपनी पसंद की ज़िंदगी?''[61] यहाँ सुमन, स्त्री को सिर्फ देह समझनेवाली पितृसत्ता के खिलाफ प्रतिरोध करती है। यहाँ स्त्री समझौते की ज़िन्दगी को अपनाने केलिए तैयार नहीं है जो इसे अब तक बेडियों में बंद करके रखी थी। पितृसत्ता की जो मूल्य व्यवस्था है जहाँ स्त्री का कोई महत्व नहीं, उसके खिलाफ आवाज़ उठाने की मांग इस उपन्यास में देख्र सकते हैं।

इस नवउपनिवेशवाद के दौर में रचनाकारों की रचना धार्मिता गंभीर और जटिल होती है। जटिल इसलिए होती है कि वर्तमान समय में समुचित पहचान आसान कार्य नहीं है जैसा प्रतीत होती है। संदेहात्मकता से गुज़र रहे मानव को सही पहचान देने केलिए किंशुक जैसे पात्र को प्रियंवद ने हमारे सामने लाकर खडा कर दिया है। किंशुक ही अनहद को यह समझाता है कि बौने का असल मकसद क्या है। वह अनहद को समझाता है- ''उन्हें सिर्फ रेल की पटरियाँ खाली चाहिए... ये

झोंपडे यहाँ से दूसरी जगह चले जाएँगे... उसके साथ ये कूडे के ढेर.. यह बीमारी, यह अशिक्षा, गरीबी यह कीडों का जीवन भी। इसमें कुछ भी नया या विशेष नहीं होगा। जो तुम कह रहे हो यह सब भी दिया जाएगा, दिया जाता रहा है। सिर्फ उतना ही, उन्हें ज़िन्दा रखने केलिए जितना खाना चाहिए... नंगा तन ढँकने केलिए चाहिए.. जितना अक्षर-ज्ञान चाहिए.. बस सिर्फ उतना।''[62] किंशुक बौने के प्रस्ताव को राजनीतिक रणनीति के गणित कहता है। बौने जैसे नव औपनिवेशिक साम्राज्यवादी बाज़ारवादी ताकतों के सारे तंत्र को किंशुक समझ लेता है और अनहद को यह भी समझाता है कि-''अपने प्रस्ताव में वे हमें ज़मीन के बदले में कुछ नहीं दे रहे हैं। नौकरी वे हमें नहीं देंगे तो वह किसी को तो देंगे ही। उन्हें मिल चलाने केलिए आदमी चाहिए। तन्ख्वाह वह हमें हमारे श्रम के बदले में देंगे। वास्तव में ज़मीन तो वे हमसे मुफ़्त ले रहे हैं।''[63] इस प्रकार किंशुक यहाँ एक जागरूक युवा होकर बौने और नुकीले दाँतवाले के सारे षड्यंत्रों को पहचानकर संदेहग्रस्त पीढ़ी को जागृत कर रहा है। वह एक सामान्य आदमी है जो उपन्यासकार की ताकत बनती है।

'आखिरी कलाम' में आचार्य तत्सत पाण्डे का अयोध्या जाना और वहाँ के पूरे माहौल देखकर विसंगतियों पर अपना बयान देना प्रतिरोध का एक रूप है। शशांक जी सोचता है- ''आचार्य जी का यह काम एक 'प्राटेस्ट सिम्बल' है। साथी-सर्वात्मन उनके साथ ऐसे ही नहीं गए हैं। पुराना खून बुढ़ापे में चिरचिराया है। लोगों को यही करना चाहिए था- इन करामाती कमीनों का जनता के हत्थों द्वारा प्रतिरोध। कि आओ बेटा, हो जाए एक-एक पकड। लोगों का मोबलाइज़ करना चाहिए था साथी।''[64] इस प्रकार 'ये दिये रात की ज़रूरत थे में' रोशनी का प्रतिरोध

जो अपनी नयी नौकरी छोड़कर उन उपेक्षित बहुरूपिया समाज केलिए काम करती है, 'होस्टल के पन्नों से' में दुष्यंत, अरुण, जीविका द्वारा कॉलज प्रशासन और राजनीति के गुंडागर्दी के खिलाफ प्रतिरोध और 'गिलिगडु' में कर्नल स्वामी द्वारा जसवंत सिंह को दी हुई प्रेरणा आदि सब प्रतिरोध की विभिन्न छवियाँ है।

इस प्रकार सत्ता का, व्यवस्था का और सामाजिक, धार्मिक, नैतिक रुढ़ियों का प्रतिरोध समकालीन हिन्दी उपन्यास का मुख्य स्वर है। पारंपरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सामंती रुढ़ियों पर आधारित समाज व्यवस्था और राजव्यवस्था द्वारा निर्मित मूल्यों के खिलाफ प्रतिरोधी मानसिकता को अपनाकर एक नयी मूल्य व्यवस्था का निर्माण करने केलिए समकालीन हिंदी उपन्यासकार कर्मरत हैं जिसमें पूरे मानव के, समाज के, प्रकृति के कल्याण ही लक्ष्य हो।

संदर्भ ग्रन्थ

1. जगदीश चतुर्वेदी- साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ.188
2. संजीव चंदन- दलित स्त्रीवाद, पृ. 313
3. जयश्री राय- दर्दजा, पृ. 77, 78
4. वही, पृ. 62
5. अखिलेश- निर्वासन, पृ.106
6. अन्हियारे तलछट में चमका, अल्पना मिश्र, पृ.78
7. जयश्री राय- दर्दजा, पृ.77
8. वही, पृ.44, 45
9. वही, पृ.135
10. अखिलेश- निर्वासन, पृ.145
11. अल्पना मिश्र- अन्हियारे तलछट में चमका, पृ.57, 58
12. वही, पृ.59
13. अखिलेश- निर्वासन, पृ.56
14. वही, पृ.356
15. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम, पृ.194
16. अखिलेश- निर्वासन, पृ.23
17. अखिलेश- निर्वासन, पृ.24, 25
18. वही, पृ.27, 28

19. डॉ.डी.एन. श्रीवास्तव- आधुनिक समाज मनोविज्ञान, पृ. 361

20. दूधनाथ सिंह, अख़िरी कलाम, पृ. 305

21. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ. 118

22. दूधनाथ सिंह- आख़िरीकलाम, पृ.378

23. वही, पू.385

24. वही, पू.387

25. अभयकुमार दुबे- सत्ता और समाज वाणी प्रकाशन, पृ.402

26. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ.41

27. वही, पृ.28

28. राजू शर्मा- हलफनामे, पृ.50

29. वही, पृ.40

30. अख़िलेश- निर्वासन, पृ.122

31. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ. 102

32. वही, पृ. 45

33. अख़िलेश-निर्वासन, पृ.199

34. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ.123

35. अख़िलेश- निर्वासन, पृ.220

36. चित्रामुद्गल- गिलिगडु, पृ.63

37. वही, पृ.61

38. चित्रामुद्गल- गिलिगडु, पृ.95, 96

39. वही, पृ.96

40. अखिलेश- निर्वासन, पृ.166

41. कविता- ये दिये रात की ज़रूरत थे, पृ.7

42. वही, पृ.17

43. वही, पृ.24

44. वही, पृ.62

45. वही, पृ.63

46. वही, पृ.87

47. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ.66

48. वही, पृ.71

49. अखिलेश- निर्वासन, पृ.324

50. वही, पृ.321

51. वही, पृ.322

52. मनोज सिंह- होस्टल के पन्नों से, पृ.251

53. वही, पृ.241

54. राजू शर्मा-हलफनामे, पृ.171, 172

55. वही, पृ.172

56. अखिलेश- निर्वासन, पृ.226

57. अखिलेश- निर्वासन, पृ.215

58. जयश्रीराय- दर्दजा, पृ.74

59. वही, पृ.111

60. डॉ.मैनेजर पाण्डे- वागर्थ, पृ.24

61. अल्पना मिश्र- 'अन्हियारे तलछट में चमका, पृ.76, 77

62. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ.114, 115

63. वही, पृ.115

64. दूधनाथ सिंह- आखिरी कलाम, पृ.359

पाँचवाँ अध्याय

अभिव्यक्ति की नवीनता : समय की माँग

हमारे समय का यथार्थ इतना जटिल, बहुआयामी और गतिशील बन गया है कि उसे समग्रता में उसकी समूची बदलाव के साथ पकड़ने की कोशिश समकालीन हिंदी उपन्यासकार कर रहे हैं। इसी से उनकी कथा कहने की शैली भी निर्धारित होती है। गतिशील बदलाव के समय में साहित्य में भी उस गतिशील बदलाव का प्रभाव आता है। उस जटिल एवं गतिशील समय के यथार्थ को पकड़ने केलिए लेखकों को भी उस गति को बढ़ाना पड़ता है। गति को शिल्प में इस्तेमाल कर रहे हैं जिसके ज़रिये प्रत्येक रचना रोचक एवं आकर्षक बनती है। विवरण की अधिकता, गति का प्रयोग, लोकभाषा का प्रयोग, स्मृति और इतिहास का प्रयोग बढ़ा है। इसके साथ जादुई भाषा का प्रयोग, यौन से जुडे शब्दों का प्रयोग आदि समकालीन हिन्दी उपन्यास के नूतन अभिव्यक्ति के उदाहरण हैं जो समय के मांग के अनुकूल है।

5.1 विवरण की अधिकता

उर्दू में एक उपन्यास आया था शमसुरहिमान का 'कई चाँद थे, सरे आसमाँ। उसकी विशेषता यह है उसमें विवरण बहुत ज़्यादा है। वह इसलिए कि वह आज की पीढ़ी केलिए लिखा गया है जो समाज से कटकर पूरे समय ऑफीस में, फिर मोबाइल और इंटरनेट पर अपना समय बर्बाद करती है। ऐसे लोगों को अपनी भागदौड वाली ज़िंदगी में अपने आसपास घट रही घटना था को देख नहीं पाते। पेडों के नाम भी नहीं पता है। इसीलिए विवरण देने की ज़रूरत पड़ती है। आज के उपन्यास में घटना प्रधान से ज़्यादा विवरण की अधिकता मिलती है।

'निर्वासन' उपन्यास में जगदम्बा के पोता द्वारा 2048 के उपन्यास लिखने का प्रसंग है जिसमें हमारे पर्यावरण से, प्रकृति से गायब हो गयी पेड-पौधों का वर्णन है।

जैसेः- ''जिस जनपद सुलतानपुर में गोसाईगंज था वह बहुत हराभरा था। जहाँ देखो पेड़ ही पेड़। आम, महुआ, जामुन, नीम के पेडों से वह जनपद जैसे गुंथा हुआ था। इनके अलावा जहाँ-तहाँ आंवला, गूलरस कटहल, बेल, कैथा, पीपल, बबूल, बरगद, चिलबिल, शीशम आदि के पेड़ भी सिर उठाये धूपताप, शीत, बारिश सहते रहते थे।''[1]

इस प्रकार नयी पीढ़ी जो पूरे समाज से कटती हैं, प्रकृति का नाश करती है, उपभोगवादी संस्कृति में जी रही है, उनकेलिए प्रकृति का, समाज का, पर्यावरण का पूरा विवरण देना पड़ता है।

5.2 गति का प्रयोग

आज जीवन जो है गति के आधार पर आँका जाता है। उपभोगवादी संस्कृति की नींव वर्तमान समाज में मज़बूत ढंग से फैलने के उपरांत जीवन के हर मोड में गति की ही सबसे बडी भूमिका है। जीवन बिट्स और बाइट्स की गति के हिसाब से आगे बढ़ रहा है। वर्तमान पीढ़ी गति के आधार पर ही जी रहे हैं। उनके अनुसार चाहे कोई भी कार्य गति के साथ बंधा हुआ है। वर्तमान पीढ़ी ही नहीं वर्तमान समाज के तमाम लोग आज बढ़ती गति के आधार पर ही जीवन बिता रहे हैं। किसी के पास समय नहीं है। समय के अभाव के कारण अपने जीवन की प्रत्येक आवश्यकताओं को कम समय में करके समय ही बचत करना चाहते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप लोग फास्टफुड, घरेलू काम निपटाने हेतु मोडर्ण घरेलू यंत्रों का सहारा लेने में मजबूर हो गये।

अखिलेश के 'निर्वासन' में गति का प्रयोग मिलते हैं। 'निर्वासन' में चाचा के परिवार इस प्रकार के जीवन बिता रहे हैं और चाचाजी उस गति में बहने केलिए बिल्कुल तैयार नहीं है। चाचा के अनुसार-"मेरी बीवी बच्चों केलिए उनसे मिलजुल कर रहने का मतलब यह है कि मैं उन्हीं जैसा हो जाऊँ। उनके रंग में ढल जाऊँ। वही चाऊमीन, बर्गर, पिज्जा चबाऊं। गंडखुल्लों की चटपटी खबरें सुनूं सुनाऊं। हरदम खीं खूं खूं उछलू कूदूं नाचूं गाऊं। तो ये मैं नहीं करनेवाला। फिर यही ठीक कि वे मुझको पागल समझें मैं उन्हें पतित।"[2] जब सूर्यकान्त सुलतानपुर में वापस पहूँचते हैं वक्त वहाँ दिखे के चकाचौंध देखकर बिल्कुल हैरान रह गये। इतने अल्प समय में सुलतानपुर में आये गंभीर परिवर्तन इस गतिशील समय के ही परिणाम है।

5.3 स्मृति का प्रयोग

हम एक ऐसे समय में जी रहे हैं जहाँ चीज़ें बहुत तेज़ी से बदल रही हैं। यह विज्ञापनों का समय है। रोज़ उनके माध्यम से एक चीज़ हमारे दिमाग में लिखी जाती है और अगले ही क्षण उसे निकालके एक नयी चीज़ की छाप पडने लायक दृश्य विधान हमें घेर लेते हैं। आज हम विज्ञापन देखकर चीज़ों का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन कोई भी चीज़ हमारे दिमाग में स्थाई रूप से नहीं रह पाती है। बाज़ार, विज्ञापन, तकनीक ये तीनों मिलकर उसे हर क्षण प्रतिस्थापित करते हैं यानी यह स्मृतिहीनता का दौर है। स्मृतियाँ लेखक का बडा औजार होती हैं। प्रतिरोध करने का और अभिव्यक्त करने का। लेखक स्मृतियों से रचनात्मक ऊर्जा लेता है और फिर इन्हीं स्मृतियों का, अपनी रचनाओं में प्रयोग करते हुए एक नयी दुनिया बना देता है।

अखिलेश ने निर्वासन में स्मृतियों का प्रयोग किया है। रामअजोर पांडेय के दादा एक ऐसे गिरमिटिया थे जो कभी लौट नहीं सके थे। वहीं वह और उनके

वंशज अपने अतीत की स्मृति को संजोए रहे। अपने पीछे छूट गए लोगों के हिस्से का भोजन निकालकर रखते रहे थे। और सूरीनाम में जाकर भी मिट्टी के बरतन बना रहे थे। रामअजारे पांडेय के बाबा की स्मृति ही यहाँ लेखक केलिए अपने पुरखों की खोज में आने की कथा का प्लॉट मिलते हैं।

स्मृतियों के अभाव में जीनेवाले लोगों को स्मृति का चित्रण करके सचेत करने का प्रयास करते हैं कि हमारे समाज में ऐसी –ऐसी चीज़ें थीं, ऐसी-ऐसी घटनाएँ थी आदि।

5.4 इतिहास का प्रयोग

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में इतिहास का भी प्रयोग बढा है। इतिहास की नये ढंग से प्रस्तुत करके उसका तटस्थ विश्लेषण करने की कोशिश है। इतिहास की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करके वहाँ छिपे घटनाओं और उपेक्षित ऐतिहासिक पात्रों का अन्वेषण है। 'परछाईं नाच', 'ये दिये रात की ज़रूरत थे', 'निर्वासन' आदि उपन्यासों में इतिहास का प्रयोग मिलते हैं।

'परछाईं नाच' में 1857 की क्रांति का चित्रण करके इतिहास में छिपे पन्नों को लेखक पुनः प्रस्तुत करते हैं। भारतीयों द्वारा अंग्रेज़ी के स्त्रियों और बच्चों के साथ जो भयानक, हिंसात्मक, क्रूर हरकतें की गयी थी उसको खोजकर इतिहास को पुनर्व्याख्या करने का आह्वान रहे हैं। देशभक्ति और राष्ट्रवाद के नाम पर किये गये अन्यायों को कभी भी न्याय के पायजामा पहना नहीं सकते।

5.5 लोकभाषा का प्रयोग

जैसे समाज में विभिन्न अस्मिताएं अपनी आवाज़ दे रही हैं, यही बात बोलियों के साथ भी होती है। वह भी मुख्य धारा साहित्य में अपना हिस्सा माँग रही है। आज लोक से हमारा कटाव होता जा रहा है। उसे जोडे रखने केलिए भी कई लेखक प्रयास कर रहे हैं। अखिलेश ने 'निर्वासन' में देहाती शब्दों का पूरी सूची उपन्यास में दी हैं जो लोग अब भूलने लगे हैं। लेखक ने पुरानी चीज़ें, शब्दों, व विचारों के गायब होने का प्रश्न हमारे सामने रखा है। सूर्यकान्त ने अपने मेफेयर रजिस्टर में 'शब्द जिन्हें कहे सुने बहुत दिन हुए' शीर्षक देकर ढेर सारे शब्द लिखे हैं जो इस प्रकार थे-"इनाश, हेंगा, रहट, बरधा, मेहरारू, मनई, ओसारा , बंसखटिया, फटफटिया, छान्ह, मचिया, जांगर, गोड़, बेराना, भुइंया, बतास, हेरना, हेराना, पातर, खदेरना, चैला, बेराना, खाटेना, पाथना, कथई, तरई, अजोर होना, थुर देना, भलमनई, गोरू, हुर देना, नटई, नक्कटी, नोन, अंचरा, बंडी, दहिजरा, गदेली, नेवाड़, बखरी, बोड़सी, मील, नीमर, कठकरेज, घेर्राना, दईऊ, चोकरना, अन्हियार, हिकना, मलाई, बरफ, खुशियाली, कोडिल्ला, सोहारी, पिसान आदि।"[3] इस प्रकार ऐसे अनेक शब्द आज गायब हो गये हैं जो गाँव, कसबों मे कहा सुना जाता था।

अल्पना मिश्र के 'अन्हियारे तलछट में चमका में भी लोकभाषा का प्रयोग हुआ है। जैसे- "जैनपुरवाली त सुस्ताये लागीं। आग में घी डारि के ओहर बैठि गयीं।"

"हम न इंतजार में रहे कि आवैं तो संभारैं। ल हो ढोलकी, ए जौनपुखाली, आवा सखी। बन्ना- बन्नी की एक्सपरट हउ।"[4]

5.6 जादुई भाषा का प्रयोग

भूमण्डलीकरण के दौर में उपभोगवादी संस्कृति की पकड में पूर्णतः आने के उपरांत जनता अपने वास्तविक होश खो बैठे हैं। दुनिया के चमक-दमक में आकृष्ट होकर अधुनातम चीज़ों व सेवाओं के पीछे भागने की मानसिकता पैदा हुई है। राजनीतिक दल भी इसी चमक की घोषणा करते हुए विकास के नाम पर जनता को गुमराह करते हैं। आख़िर जनता वास्तविक आवश्यकताओं से कोसों दूर ही स्थित है। जिस प्रकार नवसाम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा कल्पित 'युटोपियन साम्राज्य' का सपना दिखाकर आम जनता को अपनी जादुई भाषा में फँसाने की कोशिश करती है उसी प्रकार वर्तमान समय में लेखक भी उसी शैली की भाषा को अपनाकर पाठक को यथार्थ समझाने की कोशिश करते हैं। राजनेता और साम्राज्यवादी शक्तियाँ वोट मिलने केलिए या जनता को बरगलाने केलिए ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं। लेकिन लेखक जनता को यथार्थ से अवगत कराने केलिए करते हैं।

'परछाईं नाच' में बौना अपने भाषण बाजी में अनहद को एक एक युटोपियन सपना दिखाता है जो कभी भी साकार न होनेवाला है। बौना द्वारा अनहद को हिरण्य गर्भ में प्रवेश कराने का संदर्भ इसका उदाहरण है। बौना अनहद को सुनाता है- ''मैं अब इस हिरण्यगर्भ से एक नया जन्म लेता हूँ। जिस तरह साँप अपनी केंचुल छोड़ता है...जिस तरह वृक्ष अपने पत्तों का त्याग करता है... जिस तरह नदी का जल तट से मुक्त होता है उसी तरह मैं अपनी यह पुरानी काया... इस काया के समस्त लोक... इस लोक का हर कण, हर क्षण.. अपना कुल... गोत्र... जाति सब यहाँ त्याग रहा हूँ। जो कुछ भी मैं ने अभी तक धारण किया था वह अब मेरा नहीं है। न स्मृति.. न काल... न राग... न द्वेष... न आत्मा... न परिजन... न प्रेम... न

घृणा... न पाप... न पुण्य.. न देश... न काल। जिस तरह वृक्ष से नये पत्ते जन्म लेते हैं... जिस तरह साँप नयी केंचुल धारण करता है.. जिस तरह नदी हर क्षण नया जल ग्रहण करती है... उसी तरह इस गर्भ में प्रविष्ट होकर मैं नयी कायाष नयी सत्ता, नये स्वप्नों के साथ जगत् में आ रहा हूँ। यह मेरा नया जन्म, नयी जाति, नया कुल, नया गोत्र होगा। सृष्टि के समस्त पवित्र देवता, जैसे भी हैं वे दृश्य अथवा अदृश्य, वामन या विराट्.. साकार या निराकार... वे सब मुझे इस नये गर्भ में स्थापित करें... नयी काया में प्रवेश दें... मेरी रक्षा करें, मेरे जीवन को सुखों से भर दें।''[5]

'निर्वासन' में भी जादुई भाषा का प्रयोग हुआ है। इसकी खूबी यह है कि कथाकार ने इसे पूर्णतया विश्वसनीय बनाया है। सूर्यकान्त के घर में न होने और बेटा गौरव का सो जाने के बाद गौरी का जो चित्रण किया गया है वह अत्यंत रोचक है- ''दरअसल उसमें यह अद्‌भुत पराशक्ति थी कि वह चाह लेने पर ज़िंदगी का कोई भी किरदार बन सकती थी। जासूस ही नहीं वह कोई भी काम करते समय वही दिखने लगती थी। वह घर में बल्ब, ट्यूब लाइट या स्विच ठीक करते समय पेशेवर बिजलीसाज लगती थी। कपडों पर इस्तिरी करती तो धोबन लगती, गौरव को पढ़ाते समय उसके स्कूल की मास्टरनी की छवि उसमें उतर आती। यहाँ तक कि गौरव भूलकर उसे 'मैम' कहने लगता था। उसी तरह जैसे बीमारी की स्थिति में सूर्यकांत कई बार उसे 'सिस्टर' कह गया था। गौरी जब बनठन कर किसी रेस्टोरेण्ट या सजी संवरी दुकान में घुसती तो लगो भ्रम में पड़ जाते कि कोई बहुत बडी शसियत आ गयी है।''[6]

यहाँ लेखक ने जादुई भाषा के द्वारा एक स्त्री की क्षमता को चित्रित किया है।

5.7 यौन से जुडे शब्दों का प्रयोग

साहित्य में ऐसे विषय वर्जित क्षेत्र में रखे गये हैं। परंपरागत दृष्टि से ऐसे विषय और शब्दों के प्रयोग करने से अधिकांश लेखक कतराते हैं। इस संदर्भ में जयश्री रॉय जैसै लेखिका स्त्री खतना जैसे गंभीर विषय को उपन्यास का काव्य बनाना, और उस विषय की गंभीरता को बरकरार रखते हुए उन निशिद्ध शब्द या शब्दावलियों को अभिव्यक्ति देने का साहस उठाने का जोखिम भरा कार्य किया है। 'दर्दजा' में स्त्री की सुन्ना जैसे गंभीर एवं दर्दनाक प्रथा का चित्रण लेखिका ने किया है। सुन्ना के दर्दनाक चित्रण इस प्रकार है-"जाबरा के उठते-गिरते हाथ के साथ मेरे शरीर में तेज़ पीड़ा की लहरें उठ रही थीं। विस्फोट से हो रहे थे। कभी जाबरा के हाथ में चाकू होता, कभी पत्थर के टुकड़े तो कभी ब्लेड.. भय, पीडा से अवश होते हुए मैंने देखा था, उसने अपने दोनों गन्दे हाथों के लम्बे नाखूनों मेरे भीतर खुबा दिये थे। दर्द के अथाह समुद्र में डूबते हुए मैंने महसूस किया था, वह अपने नाखूनों से नोच-खसोट रही है, चीर-फाड़ रही है, कुतर रही है। उस समय आग की सलाइया-सी मेरे जाँघों के बीच चल रही थीं। लग रहा था, ढेर सारी जंगली, विषैली चींटियाँ मेरे अन्दर घुस गयी हैं और मुझे खोद-खोदकर खा रही है! या फिर कोई बिच्छू लगातार डंक मार रहा है। तेज़ जलन हो रही है। मेरे दोनों पैर बुरी तरह थरथरा रहे हैं, पूरा शरीर पसीने से भीग गया है। चिल्ला-चिल्लाकर गला फट गया है।"[7]

इसी प्रकार शाही के रात भी ऐसी बच्चियों के बाँधे गये जननांगों फिर से खोल देता है। अगर पुरुषों को संभोग न कर पाये तो वहाँ पुरुषों का अधिकार होता है कि उसके जननांम को खुद काटकर संभोग किया जाय। "आज की रात वह

अपने साथ एक चाकू ले आया था। चाकू देखते ही मेरे हाथ-पैर ठंडे हो गये थे। हमबिस्तर ना हो पाने की स्थिति में हमारे यहाँ मर्दों को अधिकार होता है कि वह अपनी स्त्री का जननांग खुद काटकर उसे संभोग के योग्य बनाये। जहीर के मेरी तरफ़ बढ़ते ही मैंने बिलखते हुए उसके पाँव पकड़ लिये थे। पीड़ा और भय के चरम क्षणों में मैं आज भी उसे पहले की तरह 'नाना' कहकर सम्बोधित करने लगती थी। मगर मेरी मिन्नतों का उस पर कोई भी असर नहीं हुआ था। उसने मुझे अपने थोंथरी चाकू से बेरहमी से काटा था और फिर जब मैं हलाल होते हुए जानवर की तरह डकार रही थी, उसने मेरे साथ सम्भोग करने की कोशिश की थी। कटे हुए घाव को चीटता हुआ उसका कठोर अंग... यह अथाह दर्द सहने की सारी सीमाओं के पार था! मैं चिल्लाती रही थी, चिल्लाती रही थी, यह जानकर भी कि कोई मुझे बचाने नहीं आयेगा।"[8]

5.8 पात्र की आलोचनात्मक भूमिका

कभी-कभी उपन्यासों में पात्र एक अलग व्यक्ति के रूप में सामने आकर कथा कहता है। 'निर्वासन' उपन्यास में पात्र बीच-बीच में आकर कथा में हस्तक्षेप करता है। उपन्यास में लेखक कहता है- "इस आख्यान में अनेक बार पात्र स्वयं उपस्थित होकर अपनी बात रखेंगे और कथाकार के अज्ञान, असमर्थता, अयोग्यता, अपर्याप्तता, अशुद्धि को दूर करेंगे। उचित ही। कथाकार को छोड़िए, वह बहुत मामूली चीज़ है, ईश्वर भी अपनी रची हुई सृष्टि में जब अन्याय और अन्यान्य गड़बड़ियां करने लगता है तो उसकी सृष्टि के-रचना के-प्रमुख चरित्र यानिकि मनुष्यगण हस्तक्षेप करके उसे दुरुस्त करते हैं। इस प्रकार किसी भी रचना के किरदारों को सचाई सामने लाने का, सचाई को सुंदर एवं कलापूर्ण बनाने का पूरा

अख़्तियार है लेकिन कई बार पात्र ख़ुद कथा कहने के चक्कर में भूलभुलैया में फंस जाते हैं- ढेर सारे गड़बड़झालों को जन्म देने लगते हैं। यहां तक कि झूठ बोलने से भी बाज़ नहीं आते हैं। तब कथाकार को हस्तक्षेप करते हुए कथा की कमान अपने हाथ में लेनी पड़ती है...।"[9] इस प्रकार लेखक कथा को लेकर आगे बढ़ता है। बाद में पात्र आकर ख़ुद कहता है कि वहाँ लेखक ने जो कहा है वह गलत है। पात्र द्वारा लेखक की आलोचना समकालीन हिन्दी उपन्यास की नयी भाषागत प्रवृत्ति है।

वर्तमान दौर में रचनाकार की रचनाधर्मिता एक दम बढ़ गयी है। चूँकि वर्तमान दौर में दुनिया गतिशील एवं संदेहात्मक परिस्थितियों से गुज़र रही है। लेखक उन सारी परिस्थितियों को पकड़कर शब्दबद्ध कर रहे हैं। समय की गतिशीलता को संपूर्णता में पकड़कर उसके अनुरूप भाषा का भी प्रयोग कर रहे हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. अखिलेश- निर्वासन, पृ. 249
2. वही, पृ. 229
3. वही, पृ. 149
4. अल्पना मिश्र- अन्हिचाहे तलछट में चमका, पृ.101
5. प्रियंवद- परछाईं नाच, पृ. 207
6. अखिलेश- निर्वासन, पृ. 132
7. जयश्री रॉय- दर्दजा, पृ.16
8. वही, पृ. 94, 95
9. अखिलेश- निर्वासन, पृ.46

उपसंहार

मूल्य शब्द अपने आप में इतना व्यापक और विस्तृत है कि जिस व्यक्ति, समाज और व्यावहारिक क्षेत्र के साथ जैसे जुडा है उसके अनुसार मूल्य के बहुआयामी अनुप्रयोग रूपायित होते हैं। जब व्यक्ति किसी लक्ष्य का चयन व निर्णय करके नैतिक प्रतिमानों के तहत उसकी पूर्ति या प्राप्ति हेतु मार्ग निर्धारित करके वह लक्ष्य हासिल करता है तब उसे मूल्य कहते हैं। समूचे मानव और प्रकृति के हित के ज़रिए किसी लक्ष्य की प्राप्ति की कोशिश को मूल्य युक्त कार्य कहते हैं। लेकिन आजकल सब लोग अपने हित तक पहूँचने केलिए भागदौड़ कर रहे हैं।

जिस समाज में मानव रहते हैं उस समाज के सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक परिवेश का गंभीर प्रभाव मानव पर पड़ता है। इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों में मूल्य संक्रमण की स्थितियों को पूरी पेचीदगी के साथ अभिव्यक्त किया है। परिवार, धर्म, राजनीति, संस्कृति आदि समाज के तमाम क्षेत्रों में मूल्यों का संक्रमण हो रहा है। मूल्य का जो वास्तविक अर्थ है जिसमें दूसरों की भलाई है, लोक मंगल का लक्ष्य है, नैतिक भावना की गुंजाइश है वे सब अब नष्ट होने की स्थिति में है। सबका अपना हित, अपना लक्ष्य, अपना तर्क हो गया है। पारंपरिक, धार्मिक, ऐतिहासिक ताकतों ने अपने तहत मूल्यों को परिभाषित कर के प्रचार-प्रसार किया था। लेकिन आज उन रूढ़िगत मूल्यों का नकार हो रहा है। आज स्त्री, दलित, आदिवासी जैसी अस्मिताएँ जो सदियों से उन रूढ़िगत मूल्यों का शिकार बने थे, वे आज उन साज़िशों को पहचानकर उसके विरुद्ध आवाज़ उठा रहे हैं। इसके साथ-साथ नवऔपनिवेशक साम्राज्यवादी ताकतें भी अपने अनुकूल मूल्य व्यवस्था का निर्माण कर रहे हैं जिसमें मानव जाने-अंजाने में उनका शिकार हो रहा है। इन सभी स्थितियों में मूल्यों का संक्रमण होना स्वाभाविक है। समकालीन

हिन्दी उपन्यासकार इन सभी स्थितियों को पूरी जटिलता के साथ अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त करता है।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से जिस प्रकार पुरा समाज बदल रहा है, उस गतिशील समाज को पकडने की कोशिश समकालीन हिंदी उपन्यासकार रहे हैं। हम ऐसे संदेहात्मक परिस्थितियों से गुज़र रहे हैं कि क्या सही है, क्या गलत है, यह निर्णय लेना असंभव बन गया है। बाज़ार के आगमन ने पूरे समाज को बदल डाला। लेकिन जहाँ बदलाव होना चाहिए था, वहाँ कोई बदलाव नहीं आया। शिक्षा व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, स्थानीय रोज़गार के क्षेत्र आदि। स्टेट जनता के मूलभूत ज़रूरतों के ऊपर धूल, मिट्टी से पुताई करके अनावश्यक चीज़ों व बाज़ार, बाज़ार से संबंधित क्षेत्रों का प्रचार एवं प्रसार कर रहे हैं। जनकल्याण की भूमिका से पूरी तरह विमुख हो गयी है। देश के संपूर्ण विकास की जगह कुछ ख़ास क्षेत्रों में, कुछ ख़ास लोगों का विकास ही हो रहा है। जिनके लिए मूल्य बन गया है 'लाभ कमाना'। किसी भी तरह लाभ कमाने की मानसिकता रखनेवाले पूँजीपति लोग, सत्ताधारी लोग, धार्मिक ताकतें आदि अपना हित पुरा करने केलिए पूरी प्रकृति, संस्कृति और धर्म यहाँ तक आम जनता के सपने को भी बाज़ार में बिक रहे हैं।

समाज में एक ओर उपभोग में जी रही पीढ़ी और दूसरी ओर अभाव, गरीबी में मरनेवाली पीढ़ी होती हैं। 'ये दिये रात की ज़रूरत थे', 'परछाईं नाच', 'निर्वासन' आदि उपन्यासों में ऐसे विपरीत युग्म को देख्र सकते हैं। पितृसत्ता और धार्मिक सत्ता ने जिन क्रूर व्यवस्था का निर्माण किया इसका विवरण दर्दजा में मिलता है। उपन्यास में सारे नियम सारी परंपराएँ अपनी ज़रूरत की अनुसार बनाकर स्त्री को देह मात्र समझनेवाली पितृसत्ता का वर्णन है। स्त्रियों के यौनसुख और

कामेच्छाओं को दबाकर उसे आधी-अधूरी बनाने की पितृसत्ता की साज़िश को लेखिका ने अपने उपन्यास 'दर्दजा' में चित्रित की है। पुरुष सत्ता के वहशीपन को 'अन्हियारे तलछट में चमका' चित्रित हुआ है। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था की विसंगतियाँ किस प्रकार युवा लोगों को भड़काकर उन्हें अनैतिक कार्यों केलिए प्रेरित कर रहे हैं इसका चित्रण मनोज सिंह का उपन्यास 'होस्टल के पन्नों से' में चित्रित है।

पौराणिक ग्रन्थों को ऐतिहासिक मानते हुए उनमें सारे सवालों के जवाब ढूढने वाले, अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानने वाले, धार्मिक उन्माद फैलाकर साम्प्रदायिकता को बढावा देनेवाले धर्मसत्ता और राज्यसत्ता की असली चरित्र का पर्दाफाश 'आखिरी कलाम' में मिलता है। धार्मिक कट्टरता उदारतावादी मूल्यों पर हावी हो रही है। आज साम्प्रदायिक ताकतें सांस्कृतिक प्रतीकों का इस्तेमाल करके साम्प्रदायिक भावना या नफ़रत को फैला रही हैं। गंगा, गाय, गीता, राम, सेना, कुरान, रामचरित मानस जैसे प्रतीकों को इन्होंने शस्त्र बनाया है। ऐसे चिह्नों-चरित्रों, पुराणों और दंतकथाओं के माध्यम से वे वर्तमान को अनुशासित करने में लगी हुई हैं। साम्प्रदायिक सौहार्द भारत केलिए एक मूल्य रहा है जिसे हम गंगा जमुनी कहते हैं। आज उस साझी संस्कृति का पतन हो रहा है।

आज सब लोग अपने-अपने हित केलिए कार्यरत है अपने लक्ष्य की पूर्ति केलिए दूसरों को अहित पहूँचाने को भी हिचकते नहीं है। लेकिन व्यक्ति किसी लक्ष्य का चयन व निर्णय कर के नैतिक प्रतिमानों के तहत उसकी पूर्ति या प्राप्ति हेतु मार्ग निर्धारण करना ही मूल्य की परिकल्पना है। लेकिन लोग अपने लक्ष्य की पूर्ति केलिए

बिना कोई नैतिक प्रतिमानों के साथ आगे बढ़ रहे हैं, भले ही उससे दूसरे का अहित हो।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में मूल्य एवं सामाजिक मानसिकता पर शोध करते समय निम्नलिखित बिन्दुओं पर पहुँच गये है।

- सामाजिक मानसिकता ही मूल्य परिकल्पना का आधारभूत तत्व है।
- मूल्य उस लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग है जिसमें पूरे मानव का, समाज का, प्रकृति का हित हो।
- पारंपरिक, ऐतिहासिक, धार्मिक ताकतों ने अपने तहत मूल्यों को परिभाषित कर के प्रचार-प्रसार किया था।
- पुरुष सत्ता ने स्त्री की देह पर अतिक्रमण किया और उसको हमेशा गुलाम बनाकर रखा।
- बाह्मणवादी पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था स्त्री, दलित समूहों को अपने अधीन रखने केलिए समर्पण, ईमानदारी, त्याग आदि मूल्यों का प्रचार कर के जनता को शिक्षा से दूर रखा ताकि वास्तविक मूल्यबोध से हमेशा दूर रहे।
- स्टेट या सत्ता ने अपने कल्याणकारी भूमिका से पीछे हटकर पूँजीवादी साम्राज्यवादी ताकतों से जुडकर विकास के नाम पर नई अवसंरचना तैयार करके जनता को उपभोक्ता में तबदील कर दिया जिसमें पूँजीवादी ताकतों का ही लाभ लक्षित है।

- आमजनता के मूल्यबोध पर उपभोक्तावादी संस्कृति हावी होकर उसे मिटाने का कार्य किया है। जिसके परिणाम स्वरूप आम जनता वास्तविक मूल्य से धकेल दिया गया है।

- विकास के नाम पर विध्वंस, सामूहिकता का अभाव, संबंधों में शिथिलता, धार्मिक कट्टरता, भ्रष्ट शासन व्यवस्था, किसान, श्रमिक, मज़दूरों की दुरवस्था आदि समय की वास्तविकता बन गयी है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासकार इस अन्याय और शोषण की विरासत को पहचानकर उसके विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान देता है। लेखक मनुष्यता के पक्ष में लिख रहे हैं और मानव विरोधी शक्तियों से प्रतिकार कर रहे हैं। आज का साहित्य लोकतंत्र की पहचान का साहित्य है। लेखक प्रतिबद्धता के साथ बदलाव को लक्षित करते हुए लेखन कर रहे हैं। वे उस व्यवस्था से समझौता न कर उसे बदल देना चाहते हैं। सत्ता का, व्यवस्था का और सामाजिक, धार्मिक, नैतिक रूढ़ियों का प्रतिरोध समकालीन हिन्दी उपन्यास का मुख्य स्वर है। पारंपरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सामंती रूढ़ियों पर आधारित समाज व्यवस्था और राजव्यवस्था द्वारा निर्मित मूल्यों के खिलाफ प्रतिरोधी मानसिकता को अपनाकर एक नयी मूल्य व्यवस्था का निर्माण करने केलिए समकालीन हिंदी उपन्यासकार कर्मरत हैं जिसमें पूरे मानव के, समाज के, प्रकृति के कल्याण ही लक्ष्य हो।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

उपन्यास

1. अखिलेश : निर्वासन
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
   तीसरा संस्करण-2016

2. अल्पना मिश्र : अन्हियारे तलछट में चमका
   आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)
   प्र.सं. 2014

3. कविता : ये दिये रात की ज़रूरत थे
   आधार प्रकाशन, हरियाणा
   प्र.सं. 2014

4. चित्रा मुद्गल : गिलिगडु
   सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
   तृतीय सं. 2005

5. जयश्री रॉय : दर्दजा
   वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
   प्र.सं. 2016

6. दूधनाथ सिंह : आख़िरी कलाम
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
   दूसरा सं. 2013

7. प्रियंवद : परछाईं नाच
   भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
   तीसरा सं- 2005

8. बृजेश शुक्ल : मंडी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2009

9. मनोज सिंह : होस्टल के पन्नों से
राजकमल पैपरबैक्स, नई दिल्ली
पहला सं. 2011

10. राजू शर्मा : हलफनामे
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला सं. 2006, पहली आवृत्ति- 2007

समीक्षा ग्रंथ

1. अभयकुमार दुबे : सत्ता और समाज वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, पृ.402

2. डॉ.अमिता रानी : रामचरित मानस में जीवन मूल्य
जयभारती प्रकाशन,
इलाहबाद,
प्र.सं.1993

3. डॉ.अर्पणा सारस्वत : तुलसी के सार्वभौम मूल्यों का परवर्ती राम-काव्य पर प्रभाव
शब्दसृष्टि प्रकाशन, दिल्ली

4. अरुण कुमार : भारत में सांप्रदायिकता का दौर
प्रिय साहित्य सदन, दिल्ली- 110094
प्र.सं.2009

5. असगर अली इंजीनियर : धर्म और साम्प्रदायिकता
वाणी प्रकाशन,
नई दिल्ली

6. किरण कुमारी : धर्म और दर्शन
न्यू भारतीय बुक कॉर्परशन,
दिल्ली, प्र.सं.2004

7. गोपाल राय : उपन्यास की संरचना
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
पहला सं. 2006, पहली आवृत्ति. 2012

8. गोविन्द चन्द्र पाण्डे : मूल्य-मीमांसा
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर, प्र.सं. 1973

9. जगदीश चतुर्वेदी : साहित्य का इतिहास दर्शन
अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स
प्र.लिमिटेड
नई दिल्ली, प्र.सं. 2013

10. जगमोहन सिंह राजपूत & राजेन्द्र दीक्षित : शिक्षा में मूल्यों का सरोकार
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्र.सं. 2012

11. जगदीश चतुर्वेदी : साहित्य का इतिहास दर्शन
अनामिका पब्लिशर्स एन्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स
प्रा.लिमिटड, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013

12. डॉ. जयश्री शिंदे : हिन्दी उपन्यास और विमर्श : अद्यतन दृष्टि
ए.बी. एस पब्लिकेशन, वाराणसी,
प्र.सं. 2012

13. डॉ. ज्योति वत्स : हिन्दी उपन्यास, सांस्कृतिक परिदृश्य
कल्पना प्रकाशन, दिल्ली-110 033

14. धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य
भूमिका से, प्र.सं. 1960, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

15. डॉ. नामवर सिंह : आधुनिक हिन्दी उपन्यास
राजकमल प्रकाशन, प्र.सं. 2016

16. पुष्पपाल सिंह : 21 वीं शती का हिन्दी उपन्यास,
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
पहला सं. 2015

17. प्रभा दीक्षित : स्त्री अस्मिता के सवाल
साहित्य निलय, कानपुर,
प्र.सं. 2011

18. सं.प्रमोद कोवप्रत : हिन्दी दलित साहित्य का विकास
वाणी प्रकाशन, प्र.सं. 2016

19. डॉ. भारती शोलके : महिला रचनाकारों की कहानियों में जीवन मूल्य
विद्या प्रकाशन, कानपुर

20. मनोहर श्याम जोशी : भीड में खोया हुआ समाज
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली,
प्र.सं. 2010

21. डॉ. एस. एस. माथुर : समाज मनोविज्ञान
विनोद पुस्तक मंदिर,
आगरा, सं. 2009

22. मैनेजर पाण्डेय से साक्षात्कार : भाषा और भूमण्डलीकरण, शब्द संसाधन प्रकाशन, दिल्ली, 2008

23. सं. रमणिका गुप्ता ज्ञान सिंह बल : दलित दर्शन नेहा प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2011

24. रमणिका गुप्ता : सीता मौसी, ज्योति प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2010

25. डॉ. रमा दूधमांडे : उत्तर आधुनिक समाज और विज्ञापन, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 2012

26. रमेश उपाध्याय : साहित्य और भूमण्डलीय यथार्थ शब्द संसाधन, दिल्ली, सं. 2008

27. डॉ.रवीन्द्र दरगन : आधुनिक हिन्दी कविता : सांस्कृतिक मूल्य आचार्य विजयेन्द्र स्नातक हिन्दी-पीठ, दिल्ली

28. डॉ. रमेशचंद्र लवानिया : हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, प्र.स.1973

29. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग १, सरस्वती मंदिर, वाराणसी, सं. 1957

30. रामचरण जोशी : प्रतिरोध की विरासत और वैश्विक पूँजी का प्रभुत्व शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 110032 प्र.सं. 2010

31. डॉ.रामदरश मिश्र, डॉ.महीप सिंह : समकालीन साहित्य चिन्तन
ज्ञान गंगा प्रकाशन,
दिल्ली, सं.1995

32. डॉ.रामभजन सीताराम : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में लघु मानव की परिकल्पना,
हिन्दी बुक सेन्टर, दिल्ली, प्र.सं.2001

33. रामशरण जोशी : इक्कीसवीं सदी के संकट
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2003, पहली आवृत्ति. 2008

34. रीता शर्मा : गिरिजा कुमार माथुर के काव्य में जीवन मूल्य
अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009

35. रोहिणी अग्रवाल : समकालीन कथा साहित्य, सरहेंद और सरोकार
आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्र.सं. 2007

36. विजय बहादुर सिंह : उपन्यास समय और संवेदना
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2007

37. विष्णु प्रभाकर : संस्कृति क्या है,
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली,सं 2008

38. वीरेन्द्र यादव : उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009

39. डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं. 1997

40. डॉ.वैशाली देशपाण्डे : स्त्रीवाद और महिला उपन्यासकार
विकास प्रकाशन,
कानपूर, प्र.सं. 2007

41. डॉ.डी.एन. श्रीवास्तव : आधुनिक समाज मनोविज्ञान
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्र.सं. 2007

42. संजीव चंदन : दलित स्त्रीवाद, द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, महाराष्ट्र,
पृ. 313

43. डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा : भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं. 2003

44. सं. सत्यप्रकाश मित्तल : भारतीय समाज एवं संस्कृति
परिवर्तन की चुनौती, प्र.सं. 2003

45. सं.डॉ. सदानन्द गोसले : इक्कीसवीं सदी के शिखर उपन्यासों में संवेदना
विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 2015

46. डॉ. सुरेन्द्र वर्मा : भारतीय जीवनमूल्य, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्र.सं. 1996

47. सुधीश पचौरी : उत्तर-यथार्थवाद
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 110002

48. हरिन्द्र कुमार : दूधनाथ सिंह का साहित्य (विश्लेषणात्मक अध्ययन)
के के पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 110002
प्र.सं. 2007

49. डॉ. हुकुमचंद राजपाल : समकालीन कविता में मानवमूल्य
शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1993

मलयालम ग्रंथ

1. सं. के.एम. अनिल : संस्कारा निर्मिति
   प्रोग्रस पब्लिकेशन, कालिकट
   प्रथम सं. जनुवरी 2017
2. के. दामोदरन : भारतीय चिन्दा, करन्ट बुक्स, तृश्शूर
   सं. 2010
3. डॉ. एम. लीलाकुमारी : नोवल विचिन्तनङल्
   मालूबन पब्लिकेषन्स्, आरयूर
   तिरुवनन्तपुरम्- प्रथम सं. नवं. 2015
4. सि.वि. सुधीन्द्रन : स्त्री मनस्स् मोचनम्
   अइ बुक्स केरला, कालिकट
   प्रथम सं. जनुवरी 2017
5. ओरु सन्गम लेख्रकर : आगोलिकरणत्तीन्टे विपत्तुकल्
   मातृभूमि बुक्स, कालिकट,
   तीसरा सं. जनुवरी 2017

कोश ग्रंथ

1. डॉ.उषा पुरी विद्यावाचस्पति : भारतीय मिथक कोश
   भूमिका से, नेशनल पब्लिशिंग हाउस
   दिल्ली, चौथा सं-2004
2. डॉ.रामचंद्र वर्मा : मानक हिन्दी कोश
   हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
   सं. 1964

पत्रिकाएँ

1. आलोचना- जनवरी- मार्च - 2013
2. आलोचना- जनवरी- मार्च - 2014
3. जन विकल्प- मई 2014
4. नया ज्ञानोदय- फरवरी 2007
5. पंचशील शोध समीक्षा- जुलाई- सितंबर 2010
6. बनास जन- जनवरी-जून - 2015
7. वर्तमान साहित्य - मार्च - 2009
8. वाक् - अक्तूबर- 2016
9. वाक् – जून - 2017
10. प्रतिमान - 2016

वेब पताएँ

1. http://jansatta.wordpress.com
2. http://vishwahindijan.blogspot.com
3. www.rachanakar.org
4. www.jagran.com
5. samveg.blogspot.com
6. www.tadbhav.in